॥ श्रीः ॥

विवेकचूडामणिः।

श्री १०८ मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यभगव-
त्पूज्यपादश्रीशंकराचार्यस्वामिविरचितः।

जयपुराभंडलान्तर्गतमाऊग्रामनिवासि श्रीमद्ब्रह्मद्वारे-
न्द्रमहाहिकृपापात्रलब्धाध्यापकपदवी
कश्रीपण्डितचन्द्रशेखरशर्मविरचितया
भाषाटीकया समलंकृतः।

[illegible]

सोऽयम

श्रीकृष्णदासात्मज-गङ्गाविष्णुना
स्वकीय "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" मुद्रणालये

[illegible]

मुद्रयित्वा प्रकाशितः।

[illegible]

कल्याण–मुंबई.

भूमिका ।

कुछ दिन कलिके बीतनेपर नास्तिकोंने श्रौत स्मार्त सनातन धर्मोंको स्वकपोलकल्पित मिथ्या युक्तियोंसे दूषित कर वेदविरुद्ध पाखण्डमतोंका प्रचार किया । जिसके प्रचार होनेसे बहुतसे मनुष्य प्रतिमा पूजन आदि कर्मोंसे तथा पितृकर्मोंसे स्वयं विरक्त होकर दूसरेको भी सनातन धर्मोंमें प्रवृत्त देखकर ठट्ठा करने लगे समयानुसार ऐसी दुर्दशा सनातनधर्म्मोंकी देखकर परमकारुणिक सनातनधर्म्मप्रतिपालक सुरासुरवंदितपादपद्म श्रीशंकर भगवान् अवतार लेकर पूर्व दक्षिण पश्चिमोत्तर सब देशोंमें आत्मश्रुत संचारसे आधुनिक पाखण्डमतावलम्बियोंको पराजय कर पुनः सनातन श्रौतस्मार्तधर्म्मोंका यथावत् प्रचार किया । पश्चात् स्वसंस्थापित सनातनधर्मोंकी रक्षा निमित्त श्रीजगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका, बदरिकाश्रम आदि प्रसिद्ध तीर्थोंमें शृंगेरीमठ शारदामठ, ज्योतिर्मठ आदि चार मठ बनाकर उन मठोंमें विद्वच्छिरोमणि सुरेश्वराचार्य आदि दश निज शिष्योंको नियुक्त किया । यह श्रीभगवत्पादपूज्य श्री १०८ शंकराचार्य स्वामी स्वसंचारित कीर्ति मण्डलसे ऐसे प्रसिद्ध हुए जिनका जीवन वृत्तान्त बोधक शंकरदिग्विजय आदि बहुतसे ग्रन्थ बने हैं इसलिये हम लोगोंका ज्यादा प्रशंसा करना जगत् प्रकाशक सूर्यमण्डलके परिचय करानेके लिये दीपप्रदर्शन समान उपहासास्पद होगा ।

ऐसे बडे यत्नोंसे सनातनधर्मोंके यथावत् प्रचार करनेपर भी कियत्काल बीतनेपर फिर यह धर्म नष्ट न हो इस कारण उपासनाके प्रवर्तक सब देवतोंके स्तोत्र पूजाविधान रचना करी शारीरक भाष्य, गीताभाष्य, स्वाराज्यसिद्धि आदि बहुतसे छोटे बडे ग्रन्थ बनाकर अद्वैत मतका स्थापन किया ।

इन सब ग्रन्थोंके बनाने परभी परमकारुणिक श्रीआचार्यजीने विचार किया कि इन ग्रन्थोंसे अनायास आत्म अनात्मवस्तुका यथावत बोध होना सबको कठिन होगा. इस निमित्त ऐसा एक ग्रन्थ होना चाहिये जिसमें थोडे अक्षरोंमें संपूर्ण अध्यात्म-विद्याका सिद्धान्त लिखा जाय जिसके देखनेसे साधारण-मनुष्योंको भी आत्म अनात्मका विवेक सुगम साध्य होजाय इस विचारसे श्रीस्वामीजीने आचार्य शिष्य संवादके बहानेसे विवेक-चूडामणि नामक यह ग्रंथ बनाया। जो कुछ हो, मेरे समझमें सहज थोडे श्लोक मनोहर छन्द स्वच्छ विषय प्रसिद्ध दृष्टान्त संयुक्त जैसा यह ग्रंथ बना है ऐसा ग्रन्थ आत्मविद्याका विरल है ।

ऐसा उत्तम इस ग्रन्थका परम आनन्द विद्वान् लोग तो लू-टते ही हैं पर जिन लोगोंने संस्कृत विद्यामें कम परिश्रम किया है वह लोग भी इस ग्रन्थके परमानन्दको अनुभव करें इसलिये तथा विशेष शास्त्र मर्यादा प्रतिपालक सनातन धर्मानुरागिणी श्री मतीमहारानी साहेब सुरमटके चित्त प्रसादनके निमित्त मैंने इस ग्रंथका देशीभाषामें अनुवाद किया करना स्वीकार किया । यद्य-पि इस भाषा अनुवादमें प्रमाद प्रयुक्त कतिपय जगह न्यूनाधिक हुआ होगा। तथापि गुणैकपक्षपाती बुद्धिमान् लोग अपना मतलब निकालही लेंगे. इस मेरे लेखको भाषा समझकर विद्वानोंको देख-नेमें संकोच न होनेके कारण मूलश्लोक भी मध्य मध्यमें लिख-दिये हैं जिसके देखनेके बहानेसे भी मेरा लेख विद्वानोंके दृष्टि गोचर होजायगा तो भी मेरा श्रम सफल होगा। इति प्रार्थना ।

प्राज्ञशिरोमणि श्रीमद्राव हरिहरेन्द्र साहि बहादुरके रामपुर ग्रामनिवासी-

प्रणत पण्डित चन्द्रशेखरशर्म्मा ।

॥ श्रीः ॥

विवेकचूडामणिके विषयोंकी अनुक्रमणिका ।

विवेकचूडामणिविषयानुक्रमणिका समाप्ता.

॥ श्रीः ॥

विवेकचूडामणिः ।

भाषाटीकासमेतः ।



मंगलाचरण ।

मायाकल्पिततुच्छसंसृतिलसत्प्रज्ञैरवेद्यं जगत्सृष्टि-
स्थित्यवसानतोप्यनुमितं सर्वाश्रयं सर्वगम् । इन्द्रो-
पेन्द्रमरुद्गणप्रभृतिभिर्नित्यं हृदब्जेऽर्चितं वन्देऽशेष-
फलप्रदं श्रुतिशिरोवाक्यैकवेद्यं शिवम् ॥ १ ॥
नत्वा विघ्नविनाशकं गणपतिं वाग्देवतामीश्वरीम् ।
पित्रोरंघ्रिसरोजयुग्ममलं स्वामीष्टसंसिद्धये ।
श्री १०८ मच्छङ्करभिक्षुनिर्मितनिबन्धस्यास्य
टीकामहं कुर्वे मध्यमदेशसम्भवगिरा भूयान्मुदेऽसौ
सताम् ॥ २ ॥ मनीष्यानन्दतीर्थेषु क्षालितां म-
तिमात्मनः । विवेकचूडामणिषु नियुंक्ते चन्द्रशे-
खरः ॥३॥ यद्यप्यगाधबोधानां विदां नोपकरिष्य-
ति । तथाप्यल्पावृजुधियां बोधायात्र ममोद्यमः ॥४॥
निर्दोषे दोषमुत्पाद्य सतामाचरिते मृषा । विस्तार-
यन्त्यपयशस्तान् खलान् प्रणमाम्यहम् ॥ ५ ॥

सोरठा ।

शंकरचरणदिनेश, मम हियवारिजकोशको ।
विकसित करे हमेश, अज्ञानज तम दूर करि ॥ १ ॥

ग्रन्थकी निर्विघ्नपरिसमाप्तिके निमित्त ग्रन्थकार श्रीशंकराचार्य स्वामी गोविन्दनामक निज गुरुको नमस्काररूप मंगलका आचरण करते हैं ॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तगोचरं तमगोचरम् ।
गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥

सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रका जो सिद्धान्तवाक्य है, उस वाक्यका विषय और इन्द्रियोंका अगोचर परमानन्दस्वरूप निजगुरुको नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम् ।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना
संस्थितिर्मुक्तिर्नो शतजन्मकोटिसुकृतैः पुण्यैर्विना
लभ्यते ॥ २ ॥

चौरासी लक्ष योनि भ्रमणकरि मनुष्य शरीर होना प्रथम दुर्लभ है दैवयोगसे मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ तोभी सब कर्मोंका अधिकारी ब्राह्मण होना दुर्लभ है, ब्राह्मण होनेपरभी वैदिकधर्मपरायण होना कठिन है, वैदिक धर्म होनेपरभी विद्वान होना दुर्लभ है, विद्वान्‌कोभी आत्म अनात्म वस्तुका विवेक अलभ्य है, आत्म अनात्म विवेकसेभी स्वयं अनुभव करना दुर्लभ है, अनुभवसेभी मैं ब्रह्म हूं ऐसी स्थिति होना दुर्घट है दैवाधीन ये सब होनेपरभी कोटिहूं जन्मके किये हुए पुण्यसमूहकी सहायता बिना मोक्ष होना कठिन है ॥ २ ॥

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥ ३ ॥

सब वस्तुओंमें ये तीन वस्तु परम दुर्लभ हैं केवल देवताओंके अनुग्रहसे होते हैं एक तो मनुष्य होना, दूसरा मोक्षकी इच्छा होना, तीसरा परब्रह्मरूपताको प्राप्त होना ॥ ३ ॥

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् । यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥४॥

पूर्वजन्मके पुण्यपुंजसे परम दुर्लभ मनुष्य जन्म और पुंस्त्व पाकर और वेदान्तशास्त्रका यथार्थ सिद्धान्त जानकर जो मनुष्य अपनी मुक्ति होनेका उपाय नहीं करता केवल पुत्र कलत्र वित्त आदि अनित्य वस्तुओंके संग्रहमें भूला है वह मूढात्मा साक्षात् आत्मघातक है॥४॥

इतः कोन्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥ ५ ॥

इससे अधिक मूढ कौन होगा, जो दुर्लभ मनुष्य शरीरमें पुरुषार्थ पाकर अपना प्रयोजन संपादन करनेमें आलस्य करताहै॥५॥

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः । आत्मैक्यबोधेन विनापि मुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥ ६ ॥

शास्त्रोंके पढने पढानेसे, यज्ञ करनेसे, देवताओंके पूजन करनेसे काम्यकर्मोंके करनेसे और देवताओंके सेवन करनेसे सैकडों ब्रह्माके बीतनेपरभी आत्मज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती किन्तु आत्मज्ञान होनेहीसे मोक्ष होता है ॥ ६ ॥

अमृतत्वस्य नाशोऽस्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः ।
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः ॥ ७ ॥

श्रुति सब स्पष्ट कहती हैं कि यज्ञ आदि काम्यकर्म करनेसे मोक्ष नहीं होता इससे स्पष्ट हुआ कि काम्यकर्म मोक्षका कारण नहीं है ७॥

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्
संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
संतं महान्तं समुपेत्य देशिकं
तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ॥ ८ ॥

इसलिये समीचीन महात्मा उपदेष्टा गुरुके शरणमें जाकर और गुरुके उपदेशोंमें मनोयोग करि बाह्य विषयोंके सुखकी इच्छा त्यागकरि संसारमें अपना मोक्ष होनेके लिये सर्वथा उपाय करना सबको उचित है ॥ ८ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ॥ ९ ॥

मोक्ष होनेका उपाय यही है कि समीचीन शास्त्रोंमें विश्वास करके और चित्तवृत्तिको निरोध करि संसारसमुद्रमें डूबे हुए आत्माको अपने उपायमें उद्धार करना ॥ ९ ॥

सन्न्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।
यत्यतां पण्डितैर्धीरैरात्माभ्यास उपस्थितैः ॥ १० ॥

संसारबन्धसे मुक्त होनेके लिये धैर्यवान् पंडित काम्यकर्मोंको छोड़कर आत्मज्ञानका अभ्यास करै ॥ १० ॥

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित्कर्मकोटिभिः ॥ ११ ॥

कर्म करनेसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता केवल चित्तशुद्धि होना कर्मका फल है आत्मसाक्षात्कार तो केवल ज्ञानहीमें होता है और करोडों कर्म करनेमें भी नहीं होता ॥ ११ ॥

सम्यग्विचारतः सिद्धा रज्जुतत्त्वावधारणा ।
भ्रान्तोदितमहासर्पभयदुःखविनाशिनी ॥ १२ ॥

पहिले अर्थमें दृष्टान्त है, जैसे रज्जुमें जो सर्पका भ्रम होताहै उसका यथार्थ विचार करनेसे सर्पका जो भय दुःख है उसका नाश करनेवाला यथार्थ रज्जुका ज्ञान होताहै । तैसे विचार करनेसे संसारका नाश करनेवाला आत्मज्ञान होताहै ॥ १२ ॥

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः ।
न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा ॥ १३ ॥

स्नान करनेसे, दान करनेसे, रातदिनके प्राणायाम करनेसे आत्मज्ञान नहीं होता किन्तु सर्वाचीनगुरुके उपदेशसे और अपने विचारसे तत्त्वज्ञान होता है ॥ १३ ॥

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः।उपाया
देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन् सहकारिणः ॥ १४ ॥

ब्रह्मज्ञानरूप जो फलकी सिद्धि है सो अधिकारी पुरुषकी आशा रखती है और निर्जनदेश, पुण्यकाल, तीर्थभूमिका वास ये सब इत्यादि ब्रह्मज्ञानके सहायक होते हैं ॥ १४ ॥

अतो विचारः कर्त्तव्यो जिज्ञासोरात्मवस्तुनः ।
समासाद्य दयासिंधुं गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ॥ १५ ॥

इस कारण आत्मज्ञानकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको दयाके समुद्र ब्रह्मज्ञानके उत्तम गुरुके पास जाकर आत्मविचार करना उचित है ॥ १५ ॥

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः ।
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः ॥ १६ ॥

आत्मविद्याका अधिकारी वही है जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है और तर्कमें चतुर है गुरुके उपदेशमें और वेदवेदान्तमें विश्वास और बाह्य विषयोंमें वैराग्ययुक्त लोभरहित है अर्थात विषयाभिलाषी लोभी पुरुष आत्मविद्याके अधिकारी कभी नहीं होते ॥ १६ ॥

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता ॥ १७ ॥

आत्मअनात्मके विचार करनेवाला, विरक्त, शम, दम, उपरति तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा इन छः गुणोंसे संयुक्त मुमुक्षु अर्थात मोक्षकी इच्छा करनेवाला पुरुष ब्रह्मज्ञानके योग्य होता है ॥ १७ ॥

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिध्यति ॥ १८ ॥

चार प्रकारके साधन आगे कहेंगे जिनके सम्पादन करनेसे आत्मतत्त्वमें स्थिरता होती है जिनको साधन नहीं हुआ उनकी आत्मतत्त्वमें स्थिति नहीं होती ॥ १८ ॥

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।
इहामुत्र फलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥ १९ ॥

क्या नित्य वस्तु है और क्या अनित्य वस्तु है इसको विचारना यह पहिला साधन स्रक् चन्दन मनोहर स्त्री आदि विषयके भोग करना इस लोकका फल है और अमृतपान नन्दनवन विहार अप्सरागणसंभोग ये सब पारलौकिक फल हैं इन दोनों फलोंमें वैराग्य होना दूसरा साधन है शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा इन छः गुणोंका सम्पादन करना तीसरा साधन है मोक्षकी इच्छा करना चौथा साधन है ॥ १९ ॥

शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥२०॥

केवल एक ब्रह्ममात्र नित्य है ब्रह्मसे अतिरिक्त अखिल जगत अनित्य है ऐसा निश्चय होना इसीको नित्यानित्य वस्तुविवेक कहते हैं ॥ २० ॥

तद्वैराग्यं जिहासा या दर्शनश्रवणादिभिः ।
देहादिब्रह्मपर्य्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥ २१ ॥

देह आदि ब्रह्मपर्य्यन्त जितने भोग्य वस्तु हैं उनके श्रवण दर्शनकी इच्छा न होनेका नाम वैराग्य है ॥ २१ ॥

विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ॥ २२ ॥

शम दम आदि जो छः सम्पत्तिके लक्षण कहते हैं इन्द्रियोंके जो जो विषय हैं उनसे सर्वथा विरक्त होकर आत्मवस्तुमें चित्तको सदा लगाना इसीको शम कहते हैं ॥ २२ ॥

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्त्तितः ॥ २३ ॥

ज्ञानइन्द्रिय और कर्मइन्द्रिय इन दोनों इन्द्रियोंका जो विषय है उससे रोकिके इन्द्रियोंको अपने २ स्थानपर स्थिर रखना इसको दम कहते हैं ॥ २३ ॥

बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ॥ २४ ॥

विषयोंसे इन्द्रियोंकी वृत्तिकी निवृत्ति होना इसीका नाम उपरति है ॥ २४ ॥

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥२५॥

चिन्ता विकार और दुःख न होनेका उपाय इनको त्याग करि दुःखको सहलेना नाम तितिक्षा है ॥ २५ ॥

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्धयाऽवधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥ २६ ॥

शास्त्र तथा गुरुका वचन इनको सत्य समझके उसपर सत्पर विश्वास करना इसको श्रद्धा कहते हैं ॥ २६ ॥

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वदा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥ २७ ॥

चित्तका लालन छोडकर केवल शुद्धचैतन्य परब्रह्ममें बुद्धिको सदा स्थिर रखना इसका नाम समाधान है ॥ २७ ॥

अहंकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपाऽवबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥ २८ ॥

आत्मस्वरूपका बोध होनेसे अहंकार आदि देह पर्य्यन्त अज्ञान कल्पित बन्धसे मुक्त होनेकी जो इच्छा उसीका नाम मुमुक्षुता है ॥ २८ ॥

मन्दमध्यमरूपापि वैराग्येण शमादिना ।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ॥ २९ ॥

यहां मुमुक्षुता वैराग्य और शम दम आदि छः संपत्ति और गुरुका प्रसाद ये सब होनेपर मन्द, मध्यम, उत्तम रूप क्रमसे बढती है तो आत्मस्वरूप प्राप्तिरूप फलको उत्पन्न करती है ॥ २९ ॥

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥ ३० ॥

जिस पुरुषको वैराग्य और मोक्षकी इच्छा ये दोनों तीव्र हैं उसी पुरुषमें शम दम आदि आत्मबोधका उपाय सार्थक होकर आत्मज्ञानरूप फलको देता है ॥ ३० ॥

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः ।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भानमात्रता ॥ ३१ ॥

जिस पुरुषमें वैराग्य और मोक्षकी इच्छा ये दोनों मन्द हैं उस पुरुषमें शम दम आदि उपाय मरु देशके जल समान निष्फल होते हैं। अर्थात् मरुदेशमें वृष्टि होतेही जल सूख जाता है उस जलमें कुछ भी काम नहीं चलता तैसे वैराग्य विना शम दम आदि उपाय निष्फल होते हैं ॥ ३१ ॥

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥ ३२ ॥

मोक्षसाधनमें जितनी सामग्री है उसमें सबसे श्रेष्ठ भक्ति है भक्ति उसीको कहते हैं जो आत्मस्वरूपका ध्यान करना अथवा रामकृष्ण आदि सगुण ब्रह्मके रूपको सदा चित्तमें चिन्तन करना ॥ ३२ ॥

स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः ॥ ३३ ॥

किसीका मत है कि आत्मस्वरूपमें रात दिन चित्तको लगाये रहना यही भक्ति है ॥ ३३ ॥

उक्तसाधनसंपन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ।
उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम् ॥ ३४ ॥

उक्त साधनचतुष्टय आदिमें सम्पन्न आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा करनेवाले अधिकारीको ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् गुरुके शरणमें जाना उचित है जिसके अनुग्रहसे संसाररूप बन्धनसे मोक्ष होता है ॥ ३४ ॥

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ॥ ३५ ॥

अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ।
तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः ।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ॥ ३६ ॥

गुरुका लक्षण कहते हैं । वेद वेदान्तके यथार्थ ज्ञाता पापसे रहित निर्लोभी ब्रह्मज्ञानी आत्मपरायण शान्त निर्धूम अग्निसदृश विना कारण दयाके सिन्धु शरणागत सत् शिष्यको बन्धु समान ऐसे समीचीन गुरुके पास जाकर भक्तिसेवन प्रणाम आदि शुश्रूषा आराधनसे प्रसन्न करनेके बाद आत्मतत्त्वज्ञानके निमित्त प्रश्न करे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो
पातितं भवाब्धौ । मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या
ऋज्व्याऽतिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥ ३७ ॥

पूछनेका प्रकार कहते हैं कि, तत्त्वज्ञानके निमित्त गुरुके पास जाकर बडे विनीत भाव होकर गुरुसे बोलना, हे स्वामिन्! हे लोकोंके बंधु! हे दयाके सिंधु! मैं संसारसमुद्रमें डूबता हूं मुझको अपनी कृपाकटाक्षदृष्टिसे और दयासुधावृष्टिसे उद्धार कीजिये ॥ ३७ ॥

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः ।
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः शरण्यमन्यद्यदहं
न जाने ॥ ३८ ॥

हे दयासिन्धु! मैं दुर्वार संसाररूप दावाग्निसे जलता हूं दुर्भाग्यरूप वायुसे कांपता हूं मुझको मृत्युभयसे रक्षा करो आपके बिना दूसरा रक्षक कोई मुझे नहीं दीखता ॥ ३८ ॥

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं
चरन्तः । तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं
जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥ ३९ ॥

शान्त स्वभाव महात्मा लोग बडे भयानक संसारसमुद्रसे, स्वयं उत्तीर्ण होकर विना कारण दया भावसे संसारसमुद्रमें बहते हुए मनुष्यको उद्धार करनेके कारण संसारमें निवास करते हैं ॥३९॥

अयं स्वभावः स्वत एव यत् परश्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम् । सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कशप्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥ ४० ॥

महात्मा लोगोंका यह स्वतःस्वभाव है जो दूसरेका दुःख दूर करनेमें तत्पर ऐसे होते हैं, जैसे सूर्यके प्रचण्ड किरणोंसे तपी हुई पृथ्वीको चन्द्रमा अपने सुधासंयुक्त किरणोंसे निष्कारण सींचता है ॥ ४० ॥

ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैर्युतैर्युष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय । संतप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो धन्यास्ते भवदीक्षणक्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ॥ ४१ ॥

हे करुणाकर ! मैं संसारके दुःखरूपदावाग्निकी ज्वालासे पीडित हूं, मुझको शीतल ब्रह्मानन्दरसके आस्वादनसे और मनोहर श्रुतिगणोंसे पवित्र कलशरूपी मुखसे टपकता हुआ अपने वचनामृतसे सींचिये धन्य वह मनुष्य है जो आपकी कृपाकटाक्षदृष्टिसे स्वीकृत हुए और ब्रह्मविद्याके पात्र बनाये गये ॥ ४१ ॥

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः । जाने न किंचित्कृपयाव मां प्रभो संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥ ४२ ॥

हे दयासिंधु ! इस संसारसे मैं कैसे पार हूंगा, ? मेरी कौन गति होगी ? संसारसमुद्र तरनेका कौन उपाय है ? मैं कुछभी नहीं जानताहूं संसारी दुःखसे मुझे बचाइये ॥ ४२ ॥

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं संसारदावानलतापतप्तम् । निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्ट्या दद्यादभीतिं सहसा महात्मा ॥ ४३ ॥

संसारतापदावानलसे संतप्त होकर विनीत भावसे बोलते हुए शरणागत शिष्यको देखकर गुरुको उचित है कि, करुणारसयुक्त आर्द्रदृष्टि दानसे शिष्यको अभय देना ॥ ४३ ॥

विद्वान्स तस्मा उपसत्तिमीयुषे मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे । प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ॥ ४४ ॥

मोक्षकी इच्छासे शरणागत और समीचीन रीतिसे आज्ञा पालन करनेवाला प्रशान्तचित्त जितेन्द्रिय शिष्यपर दयाकरि ब्रह्मविद्याका उपदेश करना विद्वान् ब्रह्मज्ञानी गुरुको उचित है ॥४४॥

माभैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः संसारसिंधोस्तरणेऽस्त्युपायः । येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥ ४५ ॥

हे विद्वन्! तुम संसारी दुःखसे भय मत करो तुम्हारा कभी नाश न होगा इस संसारसमुद्रसे पार होनेका उपाय है जिस उपायसे योगी लोग इस दुःखसे पार हुए वही उपाय तुझे मैं बतलाता हूं ऐसी रीतिसे शिष्यको उपदेश करना गुरुको उचित है ॥ ४५ ॥

अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभयनाशनः ।
तेनतीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि ॥ ४६ ॥

संसारदुःख नाश होनेका एक परम उपाय है उसी उपायसे संसारसमुद्रसे पार होकर परमानन्दको प्राप्त होगे ॥ ४६ ॥

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥ ४७ ॥

वेदान्तशास्त्रका अर्थ विचार करनेसे उत्तम आत्मज्ञान उत्पन्न होता है इसी ज्ञानसे निर्मूल दुःख नष्ट होता है यही एक दुःख नाश होनेका परम उपाय है ॥ ४७ ॥

श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षा-
च्छ्रुतेर्गीः । यो वा एतेष्ववतिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽ
विद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ॥ ४८ ॥

मोक्षके विषयमें साक्षात् श्रुति कहती है कि श्रद्धा भक्ति ध्यान योग ये सब मोक्षमें कारण हैं इन सबको जो मनुष्य अनुष्ठान करता है वह अज्ञानकल्पित देहबन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष पदको पाता है ॥ ४८ ॥

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्ते ह्यनात्मबन्धस्तत एव
संसृतिः । तयोर्विवेकोदितबोधवह्निरज्ञानकार्यं
प्रदहेत्समूलम् ॥ ४९ ॥

तुम साक्षात् परब्रह्म हो अज्ञानके संयोग होनेसे आत्मस्वरूपको भूलकर अनित्य वस्तुओं पर स्नेह करनेसे संसारी दुःखको भोगते हो जब आत्म अनात्म वस्तुका विचार करनेसे बोधरूप एक अग्नि उत्पन्न होगा तो वही अग्नि अज्ञानकल्पित संसारको समूल नाश करेगा ॥ ४९ ॥

शिष्य उवाच ।

कृपया श्रूयतां स्वामिन् प्रश्नोयं क्रियते मया ।
यदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥ ५० ॥

शिष्य कहता है कि हे स्वामिन् ! मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ कृपाकरि इस प्रश्नका उत्तर दीजिये इस प्रश्नका उत्तर आपके मुखारविन्दसे सुनकर मैं कृतार्थ हूंगा ॥ ५० ॥

को नाम बन्धः कथमेष आगतः कथं प्रतिष्ठास्य

कथं विमोक्षः । कोऽसावनात्मा परमः स्व आत्मा
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥ ५१ ॥

शिष्यका प्रश्न है कि हे दयासिंधु ! यह देहरूप बन्धन क्या वस्तु है और कैसे यह हुआ कैसे यह स्थिर है और क्या आत्मवस्तु है क्या अनात्म वस्तु है और इन दोनोंका विवेक कैसे होता है यह दयाकरि मुझसे कहिये ॥ ५१ ॥

श्रीगुरुरुवाच ।

धन्योसि कृतकृत्योसि पावितं ते कुलं त्वया ।
यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ॥ ५२ ॥

ऐसे विनीतभावसे युक्त शिष्यका वचन सुनके आचार्य बोले, तुम धन्य हो कृतकृत्य हो अर्थात् जो तुमको करना चाहिये सो करि चुके तुमने अपना कुल पवित्र किया, जो तुम अज्ञान बन्धसे मुक्त होकर साक्षात ब्रह्म होनेकी इच्छा करते हो ॥ ५२ ॥

ऋणमोचनकर्त्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धमोचनकर्त्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥ ५३ ॥

क्योंकि पिताका ऋण पुत्र मोचन करता है पर संसारबन्धसे मुक्त करनेवाला अपने विना दूसरा नहीं होता अर्थात अपनेही उद्योग करनेसे मोक्ष होता है ॥ ५३ ॥

मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःखमन्यैर्निवार्यते ॥
क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ॥ ५४ ॥

जैसे माथेका बोझ दूसरा आदमी उतारले तो वह दुःख दूर हो जाता है तैसे चाहे कि क्षुधा होनेसे जो दुःख होता है सो दुःख दूसरेको भोजन करानेसे कोट मो नहीं होता किन्तु अपनेही भोजनसे दूर होता है तैसे आत्मबन्धन अपनेही ज्ञान सम्पादनसे दूर होता है ॥ ५४ ॥

पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।
आरोग्यसिद्धिर्दृष्टाऽस्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ॥५५॥

जो रोगी रोगविमुक्त होनेके निमित्त पथ्य और औषध सेवन अपनेसे करता है वह रोगी अवश्य रोगसे विमुक्त होता है जो पथ्य औषध सेवन करायके अपना रोग दूर करना चाहे तो कभी नहीं दूर होता ॥ ५५ ॥

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा स्वेनैव वेद्यं न तु पण्डितेन ॥ चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ॥ ५६ ॥

जैसे चन्द्रमाके शीतल स्वरूपका अनुभव अपने निर्मल नेत्रसे होता है दूसरेके नेत्रसे अपनेको नहीं दीखता तैसे आत्मस्वरूप अपने हृदयके प्रबल बोधरूप चक्षुसे जान परता है दूसरे पंडितका बोध होनेसे अपनेको आत्मबोध नहीं होता ॥५६॥

अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् ।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ॥ ५७॥

अज्ञान व काम तथा कर्म आदि पाश बन्धसे मुक्त होनेमें आत्मज्ञानके विना दूसरा कोई उपाय करोडहू जन्ममें भी समर्थ नहीं होता ॥ ५७ ॥

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया । ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥ ५८ ॥

योगाभ्यास करनेसे तथा सांख्य मतके अवलम्बन करनेसे यज्ञ आदि कर्म करनेसे और नाना प्रकारकी विद्या अभ्यास करनेसे मोक्ष नहीं होता केवल जीव ब्रह्ममें एकत्व बुद्धि होनेसे मोक्ष होता है ॥५८॥

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥ ५९ ॥

जैसे वीणाका जो सुन्दर रूप है तथा वीणाका जो मनोहर शब्द है सो केवल मनुष्योंको प्रसन्न करनेके लिये है इससे कोई राज्य-प्राप्ति नहीं होती तैसे यज्ञ आदि कर्म करनेसे मोक्ष नहीं होता ॥ ५९ ॥

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥ ६० ॥

पण्डितोंकी वाक् विस्तार और शब्दकी चातुरी शास्त्रकी व्याख्या करना ये सब पण्डिताई केवल अपनी उदरपूर्तिके निमित्त है मोक्षके निमित्त नहीं होते ॥ ६० ॥

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥ ६१ ॥

जिन विद्वानोंको आत्मबोध नहीं हुआ उन लोगोंका शास्त्र पढना निष्फल है यदि विना पढे दैवाधीन ब्रह्मज्ञान हुआ तोभी पढना निष्फल है इससे स्पष्ट हुआ कि पढनेके मुख्य फल ब्रह्मज्ञानही है ॥ ६१ ॥

शब्दजालं महाऽरण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।
अतःप्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः ॥ ६२ ॥

शब्दसमूहरूप जो महा वन है सो चित्तमें भ्रम उत्पन्न होनेका कारण है कि शास्त्रोंमें अनेक प्रकारकी बातें लिखीहैं बुद्धिमानोंको ब्रह्मज्ञानी गुरुके पास जाकर आत्मविचारमें श्रम कर ऐसा विचार करना उचित है ॥ ६२ ॥

अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना ।
किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥ ६३ ॥

अज्ञानरूप महासर्पसे ग्रस्त मनुष्योंको मुक्त होनेमें ब्रह्मज्ञानही परम औषध है इसको विना वेद शास्त्र मन्त्र इन सबसे कुछ नहीं होता ॥ ६३ ॥

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विना परोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥ ६४ ॥

जैसे रोगी पुरुषोंका रोग केवल औषधके नाम सुन लेनेसे दूर नहीं होता किन्तु औषध पीनेसे दूर होता है तैसे देहबन्धसे मुक्त होनेमें एक परोक्ष ब्रह्मका अनुभव करना यही परम उपाय है ॥ ६४ ॥

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥ ६५ ॥

स्थूल देह आदि जडसमूहको ब्रह्मज्ञानसे नाश किये विना आत्मतत्त्वके समझे विना बोलनेके लिये जो बाह्य शब्द है उसके जाननेसे विना मोक्ष नहीं होगा ॥ ६५ ॥

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाऽखिलभूश्रियम् ।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥ ६६ ॥

सब शत्रुओंके नाश किये विना और भूमण्डलके राज्यभोग किये विना हम राजा हैं ऐसा कहनेसे जैसे कोई राजा नहीं होता तैसे आत्मतत्त्वके जाने विना मैं ब्रह्म हूं ऐसा कहनेसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता ॥ ६६ ॥

आप्तोक्तिं खननं तथोपरि शिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतं
निःक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद्ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते माया-
कार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥ ६७ ॥

जो द्रव्य जमीनमें किसीका रक्खा गाडा है उस द्रव्यको जो नहीं जानता है उस पुरुषको कोई ज्ञाता पुरुष बतावे पश्चात् बताने मोताबिक खोदा जाय और उसके नीचेके कंकड पत्थर अलग किया जाय तो उस जगहका रक्खा हुआ द्रव्य मिल जाता है विना खोदे केवल बतादेनेसे नहीं मिलता जैसे मायाके प्रपञ्चमें छिपाहुआ आत्माका बोध गुरुके उपदेश मोताबिक साधन किये विना दुष्ट युक्तियोंसे कभी नहीं प्राप्त होगा ॥ ६७ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये ।
स्वैरेव यत्नः कर्त्तव्यो रोगादाविव पण्डितैः ॥ ६८ ॥

इस वास्ते संसार बन्धसे मुक्त होनेके निमित्त अपनेही उपाय करना उचित है जैसे रोगसे मुक्त होनेमें अपनाही किया हुआ पथ्याचरण औषध सेवन हितकारी होता है ॥ ६८ ॥

यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयाञ्छास्त्रविन्मतः ॥
सूत्रप्रायो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभिः ॥ ६९ ॥

जो प्रश्न अभी तुमने किया है वह अति उत्तम है सर्व शास्त्रसे सम्मत है सूत्रप्राय है अर्थात् थोरे अक्षरोंमें बहुत अर्थ भरा है यह प्रश्न मोक्षकी इच्छा करनेवालोंको अवश्य जानने योग्य है ॥ ६९ ॥

शृणुष्वावहितो विद्वन् यन्मया समुदीर्य्यते ।
तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥ ७० ॥

हे विद्वन् ! जो मैं कहताहूं सो अपने मनको स्थिर करि सुनो इसके सुननेसे और विचारनेसे अवश्य संसार बन्धसे मुक्त हो जावोगे ॥ ७० ॥

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु । ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ॥ ७१ ॥

अनित्य वस्तुओंमें अत्यन्त वैराग्य होना यह मोक्षका प्रथम कारण है पश्चात् विषयोंसे इन्द्रियोंका निग्रह करना दूसरा कारण है तीसरा दम चौथा शीत उष्ण सुख दुःख आदिका सहलेना पांचवां सब काम्य कर्मका त्याग करना ॥ ७१ ॥

ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्वध्यानं चिरं नित्य-
निरन्तरं मुनेः । ततो विकल्पं परमेत्य विद्वा-
निहैव निर्वाणसुखं समृच्छति ॥ ७२ ॥

कर्म्मोंके त्याग करनेके बाद गुरुमुखसे ब्रह्मविद्याको श्रवण करना पश्चात् आत्मवस्तुको अपने मनमें विचार करना इसके बाद उस रूपको निरंतर ध्यान करना ये सब जो मोक्षके साधन हैं इसके करनेसे निर्विकल्प पर ब्रह्मको पायके अधिकार इसी देहसे ब्रह्मानन्द सुखको प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

यद्बोद्धव्यं तवेदानीमात्मानात्मविवेचनम् ।
तदुच्यते मया सम्यक्छ्रुत्वात्मन्यवधारय ॥ ७३ ॥

आत्म अनात्म वस्तुका विवेक जो तुम चाहतेहो समीचीन रीतिसे मैं कहता हूँ इसको समझकर आत्मस्वरूपमें तुम चित्तको स्थिर रक्खो ॥ ७३ ॥

मज्जास्थिमेदःपलरक्तचर्मत्वगाह्वयैर्धातुभिरेभि-
रन्वितम् । पादोरुवक्षोभुजपृष्ठमस्तकैरंगैरुपांगै-
रुपयुक्तमेतत् ॥ ७४ ॥

मज्जा आस्थि मेद मांस रुधिर चर्म त्वचा ये सात धातुसे संयुक्त [illegible] जांघा भुजा वक्षस्थल पृष्ठ मस्तक ये सब अंग उपांग [illegible] ॥ ७४ ॥

अहंममेति प्रथितं शरीरं मोहास्पदं स्थूलमितीर्-

र्येते बुधैः । नभो नभस्वद्दहनाम्बुभूमयः
सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि ॥ ७५ ॥

अहंकार ममतासे प्रसिद्ध मोहका स्थान यह स्थूल शरीर कहा जाता है आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी ये पांच सूक्ष्म भूत कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥

परस्परांशैर्मिलितानि भूत्वा स्थूलानि च स्थू-
लशरीरहेतवः । मात्रास्तदीया विषयाभवन्ति
शब्दादयः पञ्च सुखाय भोक्तुः ॥ ७६ ॥

आकाश आदि पांच तत्त्व अपने २ अंशसे इकट्ठे होकर स्थूल शरीरका कारण होते हैं तथा आकाश वायु तेज जल पृथिवी पञ्च पृथिवी पञ्च तत्त्वोंकी सूक्ष्म मात्राका नाम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं ये सब भोक्ता पुरुषके सुखके साधन क्रमसे श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण इन पांचों ज्ञानेंद्रियोंका विषय कहे जाते हैं ॥ ७६॥

य एषु मूढा विषयेषु बद्धा रागेण पाशेन सुदुर्भे-
देन । आयान्ति निर्यान्त्यधऊर्ध्वमुच्चैः स्वकर्म-
दूतेन जवेन नीताः ॥ ७७ ॥

जो मूढ जन शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पांचों विषयोंका प्रबल प्रीति रूप पाशमें फँसि जाते हैं वेही मनुष्य अपना कर्मरूप दूतके वेगमें प्राप्त होकर इस लोकमें और परलोकमें आते जाते हैं॥७७॥

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च पञ्चत्वमापुः स्वगु-
णेन बद्धाः । कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नराः
पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥ ७८ ॥

शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पांच विषयोंमेंसे एकएक विषयसें स्नेह करनेसें मृग हाथी फिलँगा मछली भ्रमर ये पांचों मारे जातेहैं

जो मनुष्य इन पांचों विषयोंके स्नेहमें सदा फँसा है वह क्यों न मारा जायगा ॥ ७८ ॥

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि ।
विषं निहंति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥ ७९ ॥

काले सर्पके विषसेभी अधिक शब्द स्पर्श आदि विषयोंका दोष अति तीव्र है क्योंकि विष खानेसे और सर्प काटनेसे मनुष्योंको दुःख देता है शब्दआदि विषय केवल दीखने सुननेसेभी दुःख देते हैं॥७९॥

विषयाशामहापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ॥८०॥

विषयकी आशारूप दुस्त्यज महापाशसे जो मनुष्य बचे हैं वेही मोक्षके भागी होते हैं और आशापाशमें फँसाहुआ षट्शास्त्रीभी मोक्षका भागी नहीं होता ॥ ८० ॥

आपातवैराग्यवतो मुमुक्षून्भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान् । आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले निगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥ ८१ ॥

अतिउत्कट वैराग्ययुक्त होकर संसारसमुद्रको पार होनेमें उद्यत मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको आशारूप ग्राह तीव्र वेगसे निवृत्त करके कण्ठग्रहपूर्वक मध्यमें डुबाता है ॥ ८१ ॥

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः ।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥ ८२॥

विषयरूप ग्राहको जो मनुष्य वैराग्यरूप तरवारसे नाश करता है वह मनुष्य निर्विघ्न संसारसमुद्रसे पार होता है ॥ ८२ ॥

विषमविषयमार्गैर्गच्छतो नष्टबुद्धेः प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि । हितसुजनगुरूक्त्या

गच्छतः स्वस्य युक्त्या प्रभवति फलसिद्धिः
सत्यमित्येव विद्धि ॥ ८३ ॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य कुटिल विषम मार्गसे अर्थात् विषयभोग करता हुआ, संसारसमुद्रसे पार होना चाहता है उसको पदपदमें परम दुःख भोगना पडता है। जो मनुष्य हितकारी श्रेष्ठ गुरुके उपदेशसे तथा अपनी युक्तिसे या विषयरस त्यागकर पार होना चाहता है उसका निश्चय मोक्षरूप फल सिद्ध होता है ॥ ८३ ॥

मोक्षस्य कांक्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूरा-
द्विषयान्विषं यथा । पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-
प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥ ८४ ॥

यदि तुमको मोक्षकी इच्छा है तो विषतुल्य विषयोंको त्याग करो और अमृततुल्य जो जो संतोष, दया, क्षमा, कोमलता, शान्ति, इन्द्रियोंका निग्रह है इन सबोंका सर्वथा आदरसे सेवन करो॥८४॥

अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्यमनाद्यविद्याकृतबन्ध-
मोक्षणम् । देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे यः सज्जते
स स्वमनेन हन्ति ॥ ८५ ॥

अनादि अविद्याकृत बन्धसे मोक्ष होनेका उपाय सर्वथा त्याग कर जो मनुष्य अनित्य इस स्थूल देहके पालनमें तत्पर होता है वह मनुष्य साक्षात् आत्मघातक है ॥ ८५ ॥

शरीरपोषणार्थी सन्य आत्मानं दिदृक्षति ।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स गच्छति ॥८६॥

जो मनुष्य अनित्य शरीरको पालन करता हुआ आत्मसाक्षात्कार चाहता है वह काष्ठ बुद्धिसे ग्राहको पकडकर नदी पार होनेकी इच्छा करता है ॥ ८६ ॥

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥ ८७ ॥

मोक्षार्थी पुरुषका अपने शरीरमें मोह होना यही महामृत्यु है, जिसने मोहको जीतलिया वही पुरुष मोक्षपदके योग्य है ॥ ८७ ॥

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु ।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८८॥

अपने देहका तथा पुत्र कलत्र आदिका मोहरूप महामृत्युको त्याग करो जिसको जीतनेसे मुनिलोग साक्षात् विष्णुपदको प्राप्त होतेहैं ॥ ८८ ॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ॥ ८९ ॥

त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मज्जा, अस्थि इन सबसे संयुक्त और मल मूत्रसे भरा हुआ यह स्थूल शरीर सर्वथा निन्द्य है ॥ ८९ ॥

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा ।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः ॥
अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः ॥ ९० ॥

परस्पर मिला हुआ आकाश आदि पञ्चतत्त्वसे आत्माके भोगस्थान यह स्थूल शरीर उत्पन्न होता है इस स्थूल शरीरका स्थूल वस्तुओंका अनुभव करनेवाली जाग्रत् अवस्था होती है ॥ ९० ॥

बाह्येन्द्रियैः स्थूलपदार्थसेवां स्रक्चन्दनस्त्र्यादि-
विचित्ररूपाम् । करोति जीवः स्वयमेतदात्मना
तस्मात्प्रशस्तिर्वपुषोऽस्य जागरे ॥ ९१ ॥

श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंसे स्रक् चन्दन मनोज्ञ स्त्री आदि स्थूल पदार्थोंका सेवन तद्रूप होकर जीवात्मा करता है इस वास्ते इस स्थूल शरीरकी जाग्रत् अवस्था प्रसिद्ध है ॥ ९१ ॥

सर्वोऽपि बाह्यसंसारः पुरुषस्य यदाश्रयः ।
विद्धि देहमिमं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः ॥ ९२ ॥

संपूर्ण यह दृश्यमान बाह्य संसार गृहस्थोंका गृहके तुल्य पुरुषका स्थूल देह है ॥ ९२ ॥

स्थूलस्य संभवजरामरणानि धर्माः स्थौल्यादयो
बहुविधाः शिशुताद्यवस्थाः । वर्णाश्रमादिनियमा
बहुधामयाः स्युः पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः ९३

जन्म होना, बढना, स्थूल होना, दुर्बल होना ये सब स्थूल शरीरके धर्म हैं, बाल युवा वृद्ध मरण आदि अनेक प्रकारकी अवस्था होती हैं वर्णाश्रम आदि नियम और प्रतिष्ठा अनादर आदि अनेक प्रकारकी इसमें आधि व्याधि होती हैं ॥ ९३ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि घ्राणं च जिह्वा-
विषयावबोधनात् । वाक्पाणिपादा गुदमप्युपस्थः
कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु ॥ ९४ ॥

श्रोत्र, त्वग्, अक्षि, जिह्वा, घ्राण इन पांच इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांचों विषयोंका ज्ञान होता है इसलिये इनको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं । वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पांचोंका वचन, आहरण, गमन, विसर्ग, आनन्द आदि कर्ममें प्रवृत्त होनेसे इनको कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ९४ ॥

निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति स्व-
वृत्तिभिः । मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः
पदार्थाध्यवसायधर्मतः ॥ ९५ ॥ अत्राभिमानादह-
मित्यहंकृतिः स्वार्थानुसंधानगुणेन चित्तम् ॥ ९६ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त ये चार अंत :करण कहे जाते हैं संकल्प विकल्प होना यह मनकी वृत्ति है पदार्थोंका निश्चय करना बुद्धिका धर्म है अभिमान होना यह अहंकारका धर्म है, विषयोंपर अनुधावन करना चित्तका धर्म है ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

प्राणापानव्यानोदानसमाना भवत्यसौ प्राणः ।
स्वयमेव वृत्तिभेदाद्विकृतिभेदात्सुवर्णसलिलवत् ९७॥

प्राण, अपान, व्यान, उदान समान, ये पांच प्राण कहे जाते हैं यद्यपि प्राण एकही है तथापि हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ, सर्वदेह इन स्थानोंपर रहकर वृत्तिभेद होनेसे पांच भेद होते हैं, जैसा सुवर्ण विकारको प्राप्त होनेसे कटक कुंडल आदि अनेक संज्ञाओंको प्राप्त होता है ॥ ९७ ॥

वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च प्राणादि पञ्चाभ्रमु-
खानि पञ्च । बुद्ध्याद्यविद्याऽपि च कामकर्मणी
पुर्य्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ॥ ९८ ॥

वचन आदि पांच कर्मेंद्रिय, श्रवण आदि पांच ज्ञान इन्द्रिय, प्राण अपान आदि पांच वायु, आकाश आदि पांच तत्त्व, बुद्धि आदि चार अंतःकरण, अज्ञान काम कर्म पुर्य्यष्टक ये सब मिलकर सूक्ष्मशरीर होता है ॥ ९८ ॥

इद शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं लिंगं त्वपञ्ची-
कृतभूतसंभवम् । सवासनं कर्मफलानुभावकं
स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः ॥ ९९ ॥

पंचीकरणके विना आकाश आदि पंचतत्त्वसे उत्पन्न पूर्ववासना-के सहित कर्मफलकी इच्छा करता हुआ जो आत्माका अनादि उपाधि है उसीको लिङ्गशरीर कहते हैं ॥ ९९ ॥

स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था स्वमात्रशेषेण विभाति यत्र । स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्कालीननानाविधवासनाभिः ॥ १०० ॥

स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीरके विभागके निमित्त स्वप्न अवस्था है इस स्वप्न अवस्थामें जाग्रत् अवस्थाकी जो नानाप्रकारकी वासनाहैं उससे संयुक्त होकर केवल बुद्धिका भान होताहै ॥ १०० ॥

कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते यत्र स्वयं भाति ह्ययं परात्मा । धीमात्रकोपाधिरशेषसाक्षी न लिप्यते तत्कृतकर्मलेशैः ॥ १०१ ॥

स्वप्न अवस्थामें सर्वसाक्षी परमात्मा कर्तृत्व भोक्तृत्वभावको प्राप्त होकर बुद्धिमात्र उपाधिसंयुक्त होनेपरभी बुद्ध्यादि॰ कृतकर्मलेशसे लिप्त नहीं होते इस कारण असंग तथा निर्लेप कहे जाते हैं॥१०१

सर्वव्यापृतिकरणं लिङ्गमिदं स्याच्चिदात्मनः पुंसः । वास्यादिकमिव तक्ष्णस्तेनैवात्मा भवत्यसंगोऽयम् ॥ १०२ ॥

मनुष्यका जो सर्व वस्तु विषयक व्यापार है वही व्यापार चैतन्य आत्माका चिह्न है अर्थात् विना चैतन्यके यह जड शरीरसे कोई व्यापार नहीं होता । जैसा बढईके व्यापार विना टांगा वसुला स्वतन्त्र किसी काममें प्रवृत्त नहीं होते इसलिये आत्मा असंग है ॥ १०२ ॥

अन्धत्वमन्दत्वपटुत्वधर्माः सौगुण्यवैगुण्यवशाद्धि चक्षुषः । बाधिर्य्यमूकत्वमुखास्तथैव श्रोत्रादिधर्मा न तु वेत्तुरात्मनः ॥ १०३ ॥

अन्धा होना, मन्द दीखना, अधिक दीखना ये सब सुन्दर गुण और

दोष नेत्रका धर्म है इसी तरह बधिर होना मूक ये सब श्रोत्रादि इन्द्रि-यका धर्म है सर्व साक्षी सर्वज्ञ आत्माका धर्म नहीं है ॥ १०३ ॥

"यस्मादसंगस्तत एव कर्मभिर्न लिप्यते किंचि-
दुपाधिना कृतैः ॥"

जिससे कि आत्मा सङ्गरहित है अत एव उपाधिकृत कर्मोसे कुछभी लिप्त नहीं होता ॥

उच्छ्वासनिःश्वासविजृम्भणक्षुत्प्रस्पन्दनाद्युत्क्रम-
णादिकाः क्रियाः । प्राणादिकर्म्माणि वदन्ति
तज्ज्ञाः प्राणस्य धर्मावशनापिपासे ॥ १०४ ॥

ऊपरको श्वास लेना नीचेको श्वास होना जँभाई आना क्षुधा होना सीधा चलना टेढा चलना खाना पीना ये सब धर्म प्राण आदि वायुके हैं आत्माके नहीं है आत्मा इन सब धर्मोसे रहित है ॥ १०४ ॥

अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि ।
अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभासतेऽजसा ॥ १०५ ॥

मन चित्त आदि चारों अन्तःकरण संकल्प विकल्प आदि धर्म युक्त होकर चक्षुष आदि पाचों ज्ञानेन्द्रियमें स्थित रहते हैं ॥ १०५ ॥

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये ।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः ॥ १०६ ॥

इच्छानुकूल विषय प्राप्त होनेसे अन्तःकरण सुखी होता है न मिलनेसे दुःखी होता है इस लिये सुख दुःख ये दोनों अन्तःकरण के धर्म हैं सदा आनन्दस्वरूप आत्माके धर्म नहीं हैं ॥ १०६ ॥

अहंकारः स विज्ञेयः कर्त्ता भोक्ताभिमान्यथ ।
सत्त्वादिगुणयोगेन चावस्थात्रयमश्नुते ॥ १०७ ॥

जो कर्ता भोक्ता और अभिमानी है वह अहंकार जानना और

यहीं अहंकार सत्त्वगुण तमोगुण और रजोगुणके योगसे जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको भोगता है ॥ १०७ ॥

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः ।
स्वत एव हि सर्व्वेषामात्मा प्रियतमो यतः ॥ १०८ ॥

विषयमें आत्मबुद्धि होनेसे विषय प्रिय होता है स्वतः विषय प्रिय नहीं है किन्तु विना कारण सभीका परम प्रिय केवल आत्मा है दूसरा नहीं ॥ १०८ ॥

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन ।
यः सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोनुभूयते ।
श्रुतिः "प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति" ॥ १०९ ॥

इस कारण आत्मा सदा आनन्दस्वरूप है आत्माको कभी दुःख नहीं होता सुषुप्तिकालमें जो सुखविशेषका अनुभव होता है वही आत्मानन्द है । ऐसेही श्रुति 'प्रत्यक्ष ऐतिह्यइतिहास अनुमान आदिसे प्रतीत होता है ॥ १०९ ॥

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणा-
त्मिका परा । कार्य्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥ ११० ॥

ईश्वरकी जो शक्ति है उसीको माया कहते हैं जिसका नाम अनादि अविद्या त्रिगुणात्मिका अव्यक्त ये सब प्रसिद्ध हैं इस मायाका अनुमान कार्य्यसे होता है जिससे सम्पूर्ण दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ११० ॥

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाऽ-
प्युभयात्मिका नो सांगाऽप्यनंगा ह्युभयात्मिका
नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥ १११ ॥

इस मायाको सत्यभी नहीं कहसकते क्योंकि अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली बहुतसी श्रुतियां विरोध करती हैं मिथ्याभी नहीं कह सकते क्योंकि इस मायाका कार्य्य प्रत्यक्ष दीखता है अंगसहित अथवा अंगसे रहितभी नहीं कहसकते यह अद्भुत अनिर्वचनीय रूप माया है ॥ १११ ॥

शुद्धाऽद्वयब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा । रजस्तमःसत्त्वमिति प्रसिद्धा गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्य्यैः ॥ ११२ ॥

शुद्ध अद्वितीय ब्रह्मका बोध होनेपर इस मायाका नाश होता है जैसे रज्जुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर सर्पका भ्रम नष्ट होजाता है इस मायाके सत्वरज तम ये तीन गुण हैं अपने २ कार्य्यसे प्रसिद्ध हैं जैसे जिस समय प्रसन्नचित होजावे और भूली हुई वार्तोका स्मरण होनेलगे तो समझना कि, सत्त्वगुणका उदय है जिस समय चित्त चंचल होजावे और कोई वस्तुपर स्थिर न रहै तो समझना कि, इस समयपर रजोगुणका उदय है। और आलस्य निद्रादि दोषोंसे बातोंके भूल जानेसे तमोगुणका उदय जानना॥ ११२ ॥

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी । रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ॥ ११३ ॥

रजोगुणका अंश मायाकी एक विक्षेपशक्ति है जिससे वह माया सब क्रियाओंमें मनुष्योंको प्रवृत्त कराती है और राग दुःख आदि जितने मनके विकार हैं सो ये सब विक्षेपशक्तिहीसे प्रबल होते हैं ॥ ११३ ॥

कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूयाऽहंकारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः । धर्मा एते राजसाः पुंप्रवृत्तिर्य-

स्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः ॥ ११४ ॥

काम क्रोध लोभ दम्भ ईर्ष्या असूया अहंकार ये सब रजोगुणके घोर धर्म हैं । जिनके वश होनेसे पुरुषकी प्रवृत्ति विषयोंमें होती है इसलिये रजोगुण बन्धका कारण है ॥ ११४ ॥

एषा वृत्तिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा । सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तिः प्रसरस्य हेतुः ॥ ११५ ॥

तमोगुणका अंश मायाकी दूसरी शक्तिका नाम आवरणशक्ति है जिससे वस्तुओंका यथार्थरूप नहीं दीख पडता पश्चात् विक्षेपशक्ति होनेसे उसी वस्तुमें दूसरे वस्तुका भान होता है । इसलिये पुरुषका संसार सम्भावना होनेमें मायाकी जो विक्षेपशक्ति है वही कारण है ॥ ११५ ॥

प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोप्यत्यन्तसूक्ष्मात्मदृग्व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा संबोधितोपि स्फुटम् । भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्यालम्बते तद्गुणान्हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्तिर्महत्या वृतिः ॥ ११६ ॥

बडे खेदकी बात है कि, तमोगुणका अंश मायाकी विक्षेपशक्तिके प्रादुर्भाव होनेसे पढे हुए बुद्धिमान् पण्डित बहुत चतुरसूक्ष्मदृष्टि पुरुषको भलीभांति कोई वस्तु समझायाजाय तोभी उस वस्तुको न समझकर भ्रांतिसे उसी वस्तुमें दूसरे वस्तुका आरोप करता है और उसी दूसरी वस्तुको दृढ अवलम्बन करता है । धन्य यह तमोगुणकी आवरण शक्तिकी महिमा है ॥ ११६ ॥

अभावना वा विपरीतभावना संभावना विप्रतिपत्तिरस्याः । संसंगयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं

विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥ ११७ ॥

अभावना विपरीतभावना संभावना निश्चयात्मिका शक्ति ये सब मायायुक्त होनेसे नहीं छूटते विक्षेपशक्ति छिपा लेती है ॥ ११७॥

अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्राप्रमादमूढत्वमुखास्त-
मोगुणाः । एतैः प्रयुक्तो नहि वेत्ति किञ्चिन्नि-
द्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥ ११८ ॥

अज्ञान आलस्य जडता निद्रा प्रमाद मूढता ये सब तमोगुणके धर्म हैं इन गुणोंके संयुक्त होनेसे मनुष्यको किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता केवल निद्रालुके सदृश जडके सदृश स्थिर रहता है ॥ ११८॥

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि ताभ्यां मिलित्वा
शरणाय कल्पते । यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः
सन्प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम् ॥ ११९ ॥

सत्त्वगुण जलके समान स्वच्छ है, तौभी रजोगुण तमोगुणमें मिलनेसे आत्माबिम्बमें प्रतिबिम्बित होकर सूर्य समान सम्पूर्ण जडसमूहको प्रकाश करता है ॥ ११९ ॥

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्माः स्वमानिताद्या
नियमा यमाद्याः । श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च
दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः ॥ १२० ॥

रजोगुणसे मिलेहुये सत्त्वगुणके मान, नियम, यम, श्रद्धा, भक्ति, मोक्षकी इच्छा आदि धर्म हैं और सत्त्वगुणका उदय होनेसे असन्मार्गसे निवृत्त और दैवी क्रियामें प्रवृत्ति होती है ॥ १२० ॥

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः
परमा प्रशान्तिः । तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा

यया सदानन्दरसं समृच्छति ॥ १२१ ॥

आत्मस्वरूपका अनुभव होना परम शान्ति होना सदा तृप्त रहना आनन्द परमात्मामें श्रद्धा होना ये सब रजोगुणसे रहित केवल विशुद्ध सत्त्वगुणके धर्म हैं सत्त्वगुणके उदय होनेसे परमानंदरस प्राप्त होता है ॥ १२१ ॥

अव्यक्तमेतात्त्रिगुणैर्निरुक्तं तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः । सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः ॥ १२२ ॥

सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंसे संयुक्त माया है इसका कारण आत्मशरीर है मायाके विभागके लिये सुषुप्ति अवस्था होती है जिस अवस्थामें सब इन्द्रियोंकी और बुद्धिकी वृत्ति नष्ट होजातीहै॥ १२२॥

सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्तिर्बीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः। सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः किञ्चिन्न वेद्मीति जगत्प्रसिद्धेः ॥ १२३ ॥

सुषुप्ति अवस्थामें सब प्रमितिका नाश होनेसे बीजरूप केवल बुद्धिकी स्थिति रहती है बीजरूपसे बुद्धिके स्थिर रहनेमें प्रमाण यही है कि सुखसे मैं सोया था मुझे कुछ मालूम नहीं हुआ ऐसा जागनेपर अनुभव होता है ॥ १२३ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादयः सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः । व्योमादिभूतान्यखिलं च विश्वमव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥ १२४ ॥

देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, अहंकारक, आदि सब विकार सुख दुःख आदि सब विषय आकाश आदि पञ्चभूत अखिल संसार मायापर्यन्त ये सब आत्मासे भिन्न अनात्मवस्तु हैं ॥ १२४ ॥

माया मायाकार्य्यं सर्वं महदादिदेहपर्य्यन्तम् । अस-
दिदमनात्मकत्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम् ॥१२५॥

बुद्धि आदि देहपर्य्यन्त ये सब मायाके कार्य्य तथा माया आत्मासे भिन्न है और अनित्य है जैसे मरुस्थलकी मरीचिकामें जो जल मालूम होता है सो सर्वथा मिथ्या है ॥ १२५ ॥

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः ।
यद्विज्ञाय नरो बन्धान्मुक्तः कैवल्यमश्नुते ॥ १२६ ॥

अब मैं तुमसे परमात्माका स्वरूप कहूंगा जिसके जाननेसे मनुष्य संसारबन्धसे मुक्त होकर कैवल्यमोक्षपदको पाताहै ॥ १२६॥

अस्ति कश्चित्स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बनः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पंचकोशविलक्षणः ॥ १२७ ॥

एक कोई अनिर्वचनीय वस्तु है सो नित्य है अहं इस प्रतीतिको आलम्बन करताहै जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंका साक्षी है अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय पांचों कोशोंसे विलक्षण है ॥ १२७ ॥

यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम् ॥ १२८ ॥

जो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें बुद्धि और बुद्धिकी वृत्तिका सद्भाव और अभाव इन सबको जानताहै ॥ १२८ ॥

यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन ।
यश्चेतयति बुद्ध्यादि न तु यं चेतयन्त्ययम् ॥१२९॥

जो स्वयं सबको देखता है और उसको कोई नहीं देखता जो बुद्धि आदि सब जडपदार्थोंको चैतन्य करताहै और उसको दूसरा कोई नहीं चेताता ॥ १२९ ॥

येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किंचन ।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्यदः ॥ १३० ॥

जो सब विश्वमें व्याप्त है और उसमें कोई नहीं व्यापता जिसका ज्ञान होनेसे सब जगत् मिथ्या मालूम होताहै वही परमात्मा है ॥ १३० ॥

यस्य सान्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः ।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्त्तन्ते प्रेरिता इव ॥ १३१ ॥

जैसे किसीके कहनेसे किसी काममें कोई प्रवृत्त होताहै तैसे केवल जिसके समीप होनेसे देह इन्द्रिय मन बुद्धि ये सब अपने २ विषयमें प्रवृत्त होतेहैं ॥ १३१ ॥

अहंकारादिदेहान्ता विषयाश्च सुखादयः ।
वेद्यन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा ॥ १३२ ॥

जिस नित्यचैतन्यरूपके सन्निधिसे अहंकार आदि देह पर्यंत ये स्थूल सूक्ष्म शरीर और सुख आदि सब विषय ये सब घटके समान स्पष्ट मालूम होते हैं ॥ १३२ ॥

एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो निरन्तराखण्डसुखानुभूतिः । सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥ १३३ ॥

यही अन्तरात्मा पुराणपुरुष निरंतर अखण्ड सुखका अनुभव करनेवाला, सदा एकरूप केवल चैतन्यस्वरूप परब्रह्म है जिसकी इच्छासे वाणी और प्राण ये सब अपने २ कर्ममें प्रवृत्त होतेहैं ॥ १३३ ॥

अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहायामव्याकृताकाश उरुप्रकाशः । आकाश उच्चै रविवत्प्रकाशते स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन् ॥ १३४ ॥

इसी सत्त्वस्वरूप बुद्धिरूप गुहामें विकाररहित परम प्रकाश तेजःस्वरूप ईश्वर आकाशमें सूर्यके सदृश अपने तेजसे सकल विश्वको प्रकाश करताहुआ भासता है ॥ १३४ ॥

ज्ञाता मनोऽहंकृतिविक्रियाणां देहेन्द्रियप्राणकृतक्रियाणाम् । अयोऽग्निवत्तामनुवर्त्तमानो न चेष्टते नो विकरोति किञ्चन ॥ १३५ ॥

यह परमात्मा मन अहंकारके विकारके और देह इन्द्रिय प्राण इन सबकी की हुई क्रियाओंका ज्ञाताहै जैसे लोहाके संयोग होनेसे अग्नि लोहकी आकृतितुल्य दीखता है पर अग्निका विकार नहीं होता तैसे आत्मा इन्द्रिय आदिके किये हुए कर्मका ज्ञाता है, परन्तु अपना न कोई चेष्टा करता है न कोई विकारको प्राप्त होता है केवल साक्षीरूपसे स्थित रहता है ॥ १३५ ॥

न जायते नो म्रियते न वर्धते न क्षीयते नो विकरोति नित्यः । विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ॥ १३६ ॥

आत्मा न जन्म लेता है न मरता है न बढता है न क्षीण होता है न कभी विकारको प्राप्त होता है नित्य है कभी उसका नाश नहीं होता इस शरीरके नष्ट होनेपरभी आत्मा जैसाका तैसा वर्तमान रहताहै जैसे घटके नाश होनेपरभी घटके भीतरके आकाशका नाश नहीं होता तैसे आत्माका [illegible] नहीं होता ॥ १३६ ॥

प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धसत्त्वस्वभावः सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः । विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-स्वहमहमिति साक्षात्साक्षिरूपेण बुद्धेः ॥ १३७ ॥

परमात्मा प्रकृतिविकृतिभावसे भिन्न शुद्ध सत्त्वस्वभाव है अर्थात् न तो आत्माका किसीसे प्रादुर्भाव होताहै न आत्मासे किसीकी उत्पत्ति होती है जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें अहं ऐसी प्रतीति होनेसे साक्षात् बुद्धिका साक्षी होकर स्थूल सूक्ष्म सब जगत्को निर्विशेष प्रकाश करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है ॥ १३७ ॥

नियमितमनसामुं त्वं स्वमात्मानमात्म-
न्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।
जनिमरणतरंगापारसंसारसिंधुं
प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः ॥ १३८ ॥

शिष्यके प्रति गुरुका उपदेश है कि तुम अपने मनको स्थिर करके बुद्धिके प्रसादसे यह हम साक्षात् आत्मा हैं ऐसा अपनेको जानो बाद जनन मरणरूप तरंगसे अपार संसारसमुद्रको पार होनेसे ब्रह्मस्वरूपमें प्राप्त होकर कृतार्थ होवो ॥ १३८ ॥

अत्रानात्मन्यहमिति मतिर्बंध एषोऽस्य पुंसः
प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरणक्लेशसंपातहेतुः । येने-
वायं वपुरिदमसत्सत्यमित्यात्मबुद्ध्या पुष्यत्यु-
क्षत्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ॥ १३९ ॥

आत्मासे भिन्न इस स्थूलशरीरमे अपने अज्ञानसे अहंबुद्धि जिन-की होती है उन पुरुषोंको जनन मरण आदि क्लेशसमूहके कारण बन्धही सदा प्राप्त रहता है जिस बन्धके होनेसे वह मनुष्य अनित्य इस स्थूल शरीरको आत्मबुद्धिसे सत्य समझके विषयोंसे पुष्ट करते हैं सेवन करते हैं पालन करते हैं ॥ १३९ ॥

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा ।

ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिकस्ततो
योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ॥ १४० ॥

तमोगुणसे विशेष मोहको प्राप्त मनुष्योंका असत्य शरीरादिकमें सत्य आत्मवस्तुकी बुद्धि उत्पन्न होती है मोह होनेपर विवेकका अभाव होनेसे सर्पमें रज्जुबुद्धिकी स्फूर्ति होती है पश्चात् सर्पको रज्जुबुद्धिसे जो पुरुष ग्रहण करता है उसको अति अनर्थ प्राप्त होता है इस कारण असद्वस्तुका ग्रहण करना यही बन्धनका कारण होता है ॥ १४० ॥

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या स्फुरन्तमात्मान-
मनन्तवैभवम् । समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमो-
मयी राहुरिवार्कबिम्बम् ॥ १४१ ॥

अखण्ड नित्य अद्वितीय बोधशक्तिसे प्रकाशमान अनन्तविभव आत्माको तमोगुणमयी यह आवरणशक्ति ढाँपलेती है जैसे प्रकाशमान सूर्यबिम्बको राहु ढाँपलेताहै ॥ १४१ ॥

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमाननात्मानं
मोहादहमिति शरीरं कलयति । ततः कामक्रो-
धप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः परं विक्षेपाख्या रजस
उरुशक्तिर्व्यथयति ॥ १४२ ॥

मायाका प्रबल आवरणशक्तिसे परमप्रकाशस्वरूप आत्मा जब छिपजाताहै तब पुरुष मोहको प्राप्त होकर आत्मासे भिन्न इस जड शरीरमें अहंबुद्धि करताहै इस शरीरमें अहंबुद्धि होनेके बाद रजोगुणकी विक्षेपनामक शक्ति, काम, क्रोध आदि अपना बन्धगुणसे उस पुरुषको परमदुःख देती है ॥ १४२ ॥

महामोहग्राहग्रसनगलितात्मावगमनो धियो नाना-
वस्थां स्वयमभिनयंस्तद्गुणतया । अपारे संसारे

विषयविषपूरे जलनिधौ निमज्ज्योन्मज्ज्यायं
भ्रमति कुमतिः कुत्सितगतिः ॥ १४३ ॥

जिस पुरुषके आत्मज्ञानको महामोहरूप ग्राह जब ग्रास करलेताहै तब वह कुबुद्धिपुरुष तमोगुणसे अपनी बुद्धिको नानाप्रकारकी अवस्थाको प्राप्त करताहुआ विषयरूप विषसे भराहुआ अपार संसारसमुद्रसे डूबता उतरताहुआ परम निन्दितगतिको प्राप्त होताहै १४३ ॥

भानुप्रभासंजनिताभ्रपङ्क्तिर्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा । आत्मोदिताहंकृतिरात्मतत्त्वं तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम् ॥ १४४ ॥

जैसे सूर्यकी प्रभासे उत्पन्न होकर मेघमंडल सूर्यको छिपाकर आत्मविस्तार दिखाताहै तैसे आत्मासे उत्पन्न हुआ अहंकार आत्मतत्त्वको छिपाकर अपने रूपको बढाताहै ॥ १४४ ॥

कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघैर्व्यथयति हिमझंझावायुरुग्रो यथैतान् । अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः ॥ १४५ ॥

जैसे घनमेघसे सूर्य छिपजानेपर शीतल जलकणके सहित उत्कट प्रबल वायु मनुष्योंको व्यथा देताहै तैसेही तमोगुणसे आत्मज्ञानके नष्ट होनेपर मायाकी प्रबल विक्षेपशक्ति नानाप्रकारके दुःखसे पुरुषोंको क्लेश देतीहै ॥ १४५ ॥

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः ।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम् १४६

इसी दोनों मायाके आवरणशक्ति और विक्षेप शक्तिसे पुरुषको बन्ध प्राप्त होताहै और इसी दोनों शक्तिसे मोहित होनेपर इस देहमें आत्मबुद्धि उत्पन्न होतीहै ॥ १४६ ॥

बीजं संसृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरंकुरो रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुः स्कन्धोऽसवः शाखिकाः । आग्राणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं नानाकर्मसमुद्भवं बहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ॥ १४७ ॥

इस संसाररूप वृक्षका तमोगुण बीज है, देहमें आत्मबुद्धि होना अंकुर है, देहादिमें प्रीति होना पल्लव है, काम्यकर्म जल है, शरीर इस वृक्षका स्कन्ध है, प्राणआदि पञ्चवायु शाखा हैं, इन्द्रिय सब वृक्षका अग्रभाग है, शब्द आदि विषय पुष्प हैं, नानाप्रकारके कर्मोंसे उत्पन्न नाना प्रकारका जो दुःख है सोई फल है इस फलका भोक्ता जीवात्मा पक्षी है ॥ १४७ ॥

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः । जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःखप्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ॥ १४८ ॥

यह जो अनात्मवस्तुका बन्ध है सो अज्ञानसे उत्पन्न है स्वाभाविक है यही अनात्मबन्ध पुरुषके जन्म नाश व्याधि जरा आदि दुःखप्रवाहको उत्पन्न करताहै ॥ १४८ ॥

नास्त्रैर्न शस्त्रैरनिलेन वह्निना छेत्तुं न शक्यो न च कर्मकोटिभिः । विवेकविज्ञानमहासिना विना धातुः प्रसादेन सितेन मञ्जुना ॥ १४९ ॥

इस प्रबल अज्ञानरूप बन्धको विवेक और विज्ञानरूप महातरवारके विना और मनोहर स्वच्छ ईश्वरके प्रसादविना कोई शस्त्र नहीं छेदन करसकता है न कोई अस्त्र न वायु उडा सकता है न तो अग्नि जला सकता है न किसी तरहका कर्म नाश करसकता है किन्तु केवल ज्ञानहीसे अज्ञानबन्ध नष्ट होता है ॥ १४९ ॥

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्मनिष्ठा तयैवात्मविशुद्धिरस्य । विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं तेनैव संसारसमूलनाशः ॥ १५० ॥

जो पुरुष श्रुतियोंका प्रमाण स्थिर मानता है उस पुरुषकी स्वधर्ममें श्रद्धा भक्ति होतीहै श्रद्धा होनेसे बुद्धिशुद्धि होती है बुद्धिशुद्धि होनेसे परमात्मज्ञान होता है परमात्मज्ञान होनेहीसे समूल संसारका नाश होता है ॥ १५० ॥

कोशैरन्नमयाद्यैः पञ्चभिरात्मा न संवृतो भाति ॥ निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवलपटलैरिवाम्बु वापीस्थम् ॥ १५१ ॥

जैसे जलहीकी शक्तिसे उत्पन्न होकर शेवाल बावलीके सब जलको आच्छादन कर लेताहै तैसे आत्माकी शक्तिसे उत्पन्न होकर अन्नमय आदि पंच कोश आत्माको आवरण करलेता है जिसमें ऐसे प्रत्यक्ष रूप ईश्वरका प्रकाश नष्ट होजाता है ॥ १५१ ॥

तच्छैवालापनये सम्यक्सलिलं प्रतीयते शुद्धम् । तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः ॥ १५२ ॥

उस शैवालको दूर करनेसे शीघ्रही पुरुषको परम सौख्य देनेवाला तृषा संतापके नाश करनेवाला परम पवित्र स्वच्छ जल दिखाता है ॥ १५२ ॥

पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः । नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परं स्वयंज्योतिः ॥ १५३ ॥

तैसे अन्नमय आदि पंच कोशके ज्ञानद्वारा अज्ञान दूर करनेसे नित्य आनन्दस्वरूप जन्म आदिसे रहित प्रत्यक्ष स्वयं प्रकाश स्वरूप शुद्ध परब्रह्मका ज्ञान होताहै ॥ १५३ ॥

आत्मानात्मविवेकः कर्त्तव्यो बन्धमुक्तये विदुषा । तेनैवानंदीभवति स्वं विज्ञाय सच्चिदानन्दम् ॥ १५४ ॥

संसारका बन्ध विमुक्त होनेके निमित्त विद्वान्को आत्मअनात्मवस्तुका विवेक करना चाहिये जिस विचारसे सच्चिदानन्दस्वरूप अपनेको समझके ज्ञानीलोग परमानन्दको प्राप्त होते हैं ॥ १५४ ॥

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गात्प्रपञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम् । विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्व्वं तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ॥ १५५ ॥

जैसे प्रत्यक्ष दृश्य मुञ्जाको हटानेसे उसके भीतरका कीलक अलग दीखता है तैसे प्रत्यक्ष इस सब प्रपञ्चको भी असंग अक्रिय आत्मरूप समझके इसीमें प्रपञ्चको लय करके आत्मबुद्धिसे मनुष्य स्थित रहता है वही मुक्त कहाता है ॥ १५५ ॥

देहोयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोश-
श्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ॥ १५६ ॥

यह देह अन्नसे उत्पन्न है और अन्नमय इसका कोश है और अन्नहीसे इसका पालन होताहै और अन्न न मिलनेसे विनाशको प्राप्त होताहै ॥ १५६ ॥

त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशि-
र्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः ॥ १५७ ॥

त्वचा चर्म मांस रुधिर अस्थि पुरीष इन्हीं सबका समूह है इसलिये यह देह नित्यशुद्ध चैतन्यस्वरूप कभी नहीं होसकता है ॥ १५७ ॥

पूर्वं जनेरपि मृतेरपि नायमस्ति जातक्षणः क्षण-
गुणोऽनियतस्वभावः । नैको जडश्च घटवत्परि-
दृश्यमानः स्वात्मा कथं भवति भावविकार-
वेत्ता ॥ १५८ ॥

यह देह जन्मके पहिले भी न था न मरने बाद रहेगा उत्पत्ति-समयमें दीखता है क्षणिक इसमें गुण है इसकी स्थिरता भी निश्चित नहीं है अनन्तानन्त है और जड है घटके नाई दीखताहै ऐसा यह उत्पन्न विकार जड देह आत्मा क्योंकर हो सकता है १५८॥

पाणिपादादिमान्देहो नात्मन्यंगेऽपि जीवति ।
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः ॥१५९॥

हाथ और पैर आदि अंगोंके भंग होनेपरभी यह देह जीतारहता है इसलिये हस्तपादसंयुक्त यह शरीर आत्मा नहीं है और अंगोंके खंज होनेपरभी उनकी शक्ति बनी रहती है इससे नियम्य जो देह है सो नियामक आत्मा नहीं होसकता ॥ १५९ ॥

देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादिसाक्षिणः ।
स्वत एव स्वतःसिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः ॥१६० ॥

देह और देहका धर्म कर्म अवस्था आदिका साक्षी आत्माको देहसे विलक्षणता आपसे आप सिद्ध है ॥ १६० ॥

शल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः ।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः ॥ १६१ ॥

अस्थिका समूह मांससे लिप्त मलसे परिपूर्ण अतिनिन्दित यह देह चैतन्य नहीं होसकता है क्योंकि चैतन्य इससे विलक्षण है ॥ १६१ ॥

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशावहंमतिं मूढजनः
करोति । विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो निजस्व-
रूपं परमार्थभूतम् ॥ १६२ ॥

त्वचा मांस मज्जा अस्थि पुरीषका समूह इस देहमें जो अहं बुद्धि करता है वह अतिमूढ है जो विचारवान हैं वह आत्मरूप परमार्थवेत्ता आत्माको देहसे विलक्षण जानते हैं ॥ १६२ ॥

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धिर्देहे च जीवे विदुष-
स्त्वहंधीः । विवेकविज्ञानवतो महात्मनो ब्रह्मा-
हमित्येव मतिः सदात्मनि ॥ १६३ ॥

जिस पुरुषको इस जडदेहमें अहं बुद्धि होतीह वह जड मनुष्य है, देहमें और जीवमें जिनकी आत्मबुद्धि है वह विद्वान हैं हम ब्रह्म हैं ऐसी बुद्धि सदा अपनेमें जिसकी होती है वही विवेकयुक्त विज्ञानी महात्मा है ॥ १६३ ॥

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे त्वङ्मांसमेदोऽस्थि-
पुरीषराशौ । सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे
कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व ॥ १६४ ॥

हे मूढजन ! त्वचा, मांस, मज्जा, अस्थि, पुरीषका समूह यह देह है इस देहमें जो तुम्हारी आत्मबुद्धि हुई है इसको छोडकर विकल्पसे रहित सबका आत्मा परब्रह्ममें परमशान्तिको करो और उन्हींका सेवन करो ॥ १६४ ॥

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां विद्वानहंतां न जहाति
यावत् । तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्त्ताप्यस्त्वेष
वेदान्तनयान्तदर्शी ॥ १६५ ॥

अनित्य इस देहमें और इन्द्रियोंमें भ्रमसे उत्पन्न अहंबुद्धिको जबतक जो मनुष्य नहीं त्याग करता है तबतक वेदान्तशास्त्रकी नीतिमार्गका पारदर्शी होनेपरभी उस मनुष्यसे मुक्तिकी वार्ता भी दूर रहती है ॥ १६५ ॥

छायाशरीरे प्रतिबिंबगात्रे यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे । यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचिज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु ॥ १६६ ॥

अपनी छायाके शरीरमें तथा अपना प्रतिबिम्बमें तथा स्वप्नावस्थाके शरीरमें हृदयके कल्पित देहमें जैसे तुम्हारी कोई आत्मबुद्धि नहीं होती तैसे इस जीवित शरीरमें भी आत्मबुद्धि तुम्हें न होनी चाहिये ॥ १६६ ॥

देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम् । यतस्ततस्त्वं च हि तां प्रयत्नात्त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ॥ १६७ ॥

जन्म मरण आदि दुःख होनेके कारण मनुष्योंकी इस देहमें आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है इस लिये तुम इस देहके आत्मबुद्धिको त्याग करो इस बुद्धिको चित्तसे त्यागने पर फिर जन्म होनेकी आशा न होगी ॥ १६७॥

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितो यः प्राणो भवेत् प्राणमयस्तु कोशः । येनात्मवानन्नमयोन्नपूर्णः प्रवर्त्ततेसौ सकलक्रियासु ॥ १६८ ॥

प्राणवायु जो है सोई वचन आदि पंच कर्मेन्द्रियोंसे संयुक्त होकर प्राणमयकोश होता है जिससे यह देह आत्मवान् होता है और अन्नसे पूर्ण होनेसे अन्नमयकोश कहा जाता है और प्राणयुक्त होनेसे यावत् क्रियामें प्रवृत्त होता है ॥ १६८ ॥

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो गन्तागन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः । यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं स्वं वान्यं वा किंचन नित्यं परतन्त्रः ॥ १६९॥

वायुका विकार प्राणमय कोश है वायुके सदृश अन्तर्बाह्य गमन आगमन करता है और कभी कोई इष्ट अनिष्ट और अपना पराया कुछ नहीं जानता है इसलिये सदा परतंत्र जो प्राणमय-कोश सो आत्मा नहीं है ॥ १६९ ॥

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्कोशो ममा-हमिति वस्तु विकल्पहेतुः। संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयांस्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य्य विजृम्भते यः ॥ १७० ॥

श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये सब मिलके ममता अहंकार इस वस्तुका विकल्पके कारण और नाना प्रकारकी सम्भा-षनासे शोभित प्राणमय कोशको परिपूर्ण कर यह जो मनोमय कोश होताहै प्रबल वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १७० ॥

पञ्चेन्द्रियैः पञ्चभिरेव होतृभिः प्रचीयमानो विष-याज्यधारया । जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्धनैर्म-नोमयाग्निर्दहति प्रपञ्चम् ॥ १७१ ॥

यह मनोमय कोशरूप अग्नि, पञ्चज्ञानेन्द्रियरूप पांच होतासे संचित और विषयरूप घृतधारासे और अनेक जन्मके वासना-रूप इन्धनसे अतिशय प्रज्वलित होकर नानाप्रकारके महाप्रप-ञ्चको प्राप्त करता है ॥ १७१ ॥

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः । तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥ १७२ ॥

मनसे अतिरिक्त दूसरी अविद्या नहीं है मनरूप अज्ञान संसार बन्धका कारण है मनका तरंग नष्ट होनेसे सकल प्रपञ्च नष्ट होता है और मनके बढनेसे सकल प्रपंच बढता है ॥ १७२ ॥

स्वप्नेऽथ शून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादिविश्वं मन एव सर्वम् । तथैव जाग्रत्यपि नो विशेष-स्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥ १७३ ॥

जैसे स्वप्न अवस्थामें अथवा शून्य प्रदेशमें मनही भोक्तृत्व आदि सब विश्वकी सृष्टि करता है तैसे जाग्रत् अवस्थामें भी कुछ विशेष नहीं है यह सम्पूर्ण प्रपञ्च केवल मनहीका तरंग है॥ १७३॥

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने नैवास्ति किंचित्सकल-प्रसिद्धेः । अतो मनःकल्पित एव पुंसः संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ॥ १७४ ॥

सुषुप्तिकालमें जब मनका लय होजाता है उस कालमें किसी वस्तुका भान नहीं होता है इससे स्पष्ट मालूम होता है कि, सबमें प्रत्यक्ष जो यह ईश्वर है उसमें जो संसारकी संभावना होती है सो केवल मनहीकी कल्पना है अगर ऐसा न होता तो सुषु-प्तिमें भी संसारका भान होता सच मुच ईश्वरका संसारसम्बन्ध नहीं होता ॥ १७४ ॥

वायुनाऽऽनीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते । मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ॥ १७५॥

जैसे वायु मेघको इकट्ठा करता है फिर वही वायु मेघको अ-न्यत्र उडाय देता है तैसे मनहीसे पुरुषकी बन्धकल्पना होती है और मनहीसे मोक्ष भी होता है ॥ १७५ ॥

देहादिसर्वविषये परिकल्प्य रागं बध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्गुणेन । वैरस्यमत्र विषवत्सु विधाय पश्चादेनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ॥ १७६ ॥

जैसे रस्सीसे पशु बांधा जाता है तैसे देह आदि सब विषयोंमें प्रीति बढाकर विषयगुणसे मनही पुरुषको फँसा देता है पश्चात् वही

मन विषयोंमें विषसमान विरमताको प्राप्त कर उस बन्धसे पुरुषको बचालेता है ॥ १७६ ॥

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने । बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणैर्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम् ॥ १७७ ॥

मनुष्योंके बन्ध और मोक्ष दोनोंके विधानमें आदिकारण मनहीहै रजोगुणके योगसे मलिन होकर मन बन्धका कारण होता है और रजोगुण तमोगुणसे रहित शुद्धसत्त्वप्रधान मन पुरुषके मोक्षमें कारण होता है ॥ १७७ ॥

विवेकवैराग्यगुणातिरेकाच्छुद्धत्वमासाद्य मनोविमुक्त्यै । भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षोस्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे ॥ १७८ ॥

विवेक और वैराग्यके गुण बढनेसे मन शुद्धताको प्राप्त होकर मोक्षका कारण होता है इसलिये बुद्धिमान मुमुक्षु पुरुषोंको प्रथम विवेक और वैराग्य करना योग्य है ॥ १७८ ॥

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु । चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ॥ १७९ ॥

विषयरूप अरण्य भूमिमें मननात्मक एक महाव्याघ्र सदा वर्त्तमान रहता है इसलिये समीचीन मुमुक्षु पुरुषको विषयरूप अरण्यभूमिमें कभी जाना योग्य नहीं है ॥ १७९ ॥

मनः प्रसूते विषयानशेषान्स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः । शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान्गुणक्रियाहेतुफलानि नित्यम् ॥ १८० ॥

स्थूल सूक्ष्मरूपसे भोक्ता पुरुषके सम्पूर्ण विषयको तथा शरीर वर्णाश्रम जाति भेद गुण क्रिया कारण फल इन सबको मनही सदा उत्पन्न करता है ॥ १८० ॥

असंगचिद्रूपममुं विमोह्य देहेन्द्रियप्राणगुणैर्निबध्य ।
अहं ममेति भ्रमयत्यजस्रं मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ॥ १८१ ॥

असंग चैतन्यस्वरूप ईश्वरको मोहित कर देह इन्द्रिय प्राण सत्वादिगुणोंसे बांधकर अपना कल्पित जो सुखदुःखआदि फल है उसके उपभोगमें अहं मम अर्थात यह मेरा है यह मैं हूँ ऐसे भ्रमको मन सर्वथा प्राप्त करदेताहै ॥ १८१ ॥

अध्यासदोषात्पुरुषस्यसंसृतिरध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः । रजस्तमोदोषवतो विवेकिनो जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ॥ १८२ ॥

विषयासे पुरुषका संसर्गाध्यास होनेसे ईश्वरमें, संसारसंभावना होती है और अध्यासरूप बन्धकी कल्पना मनही करताहै. इसलिये रजस्तमरूपदोषयुक्त मनही विवेकी पुरुषके जन्म मरण आदि दुःखका आदिकारण है ॥ १८२ ॥

अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम् ॥ १८३ ॥

इसलिये यथार्थदर्शी पण्डित लोग मनहीको अविद्या कहते हैं जिस मनके वेगसे जैसे वायुवेगसे मेघमण्डल भ्रमण करता है तैसे मनहीके वेगसे सम्पूर्ण विश्व भ्रमको प्राप्त हो रहा है ॥ १८३ ॥

तन्मनःशोधनं कार्य्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा ।
विशुद्धेसति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते ॥ १८४ ॥

इस कारण मोक्षार्थी पुरुषोंको प्रयत्नमें प्रथम मनहीका शोधन करना योग्य है जब मन विशुद्ध हो तो मुक्ति हस्तामलक समान हो जायगी ॥ १८४ ॥

मोक्षैकशक्त्या विषयेषु रागं निर्मूल्य संन्यस्य च सर्वकर्म । सच्छ्रद्धया यः श्रवणादिनिष्ठो रजःस्वभावं स धुनोति बुद्धेः ॥ १८५ ॥

प्रबल मोक्षकी शक्तिसे जो पुरुष विषय प्रीतिको निर्मूल नाश कर और सब काम्य कर्मोंको त्यागकर सम्यक् श्रद्धासे श्रवण मनन आदि उपायमें युक्त होता है वही मनुष्य बुद्धिसे रजोगुण स्वभावको दूर करता है ॥ १८५ ॥

मनोमयो नापि भवेत्परात्मा ह्याद्यन्तवत्त्वात्परिणामभावात् । दुःखात्मकत्वाद्विषयत्वहेतोर्द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ॥ १८६ ॥

मनोमयकोश भी परम आत्मा नहीं है क्योंकि मनोमयकोश उत्पत्तिविनाशयुक्त है और वृद्धि क्षयको भी प्राप्त होता है और दुःखात्मक है विषयोंका कारण है आत्मा तो आदि अन्तसे रहित उत्पत्तिविनाशरहित सुखात्मक विषयातिरिक्त सबका द्रष्टा है जो द्रष्टा होता है वह दृश्य होकर नहीं दीखता इसलिये मनोमयकोश भी आत्मा नहीं है ॥ १८६ ॥

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्द्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः । विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम् ॥ १८७॥

पंचज्ञानेन्द्रियसहित और अपनी वृत्तिसंयुक्त जो बुद्धि है सोई कर्तृत्वयुक्त विज्ञानमयकोश होतीहै जिससे आत्मामें भी उत्पत्ति विनाशरूप संसारकी संभावना होती है ॥ १८७ ॥

अनुव्रजच्चित्प्रतिबिम्बशक्तिर्विज्ञानसंज्ञः प्रकृतेर्विकारः । ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम् ॥ १८८ ॥

चैतन्यकी प्रतिबिम्बशक्तिसे युक्त होकर वही जो प्रकृतिका विकार विज्ञानमयकोश है सोही देहमें और इन्द्रियोंमें मैं ज्ञानी हूं मैं क्रियावान हूं ऐसे अभिमानको उत्पन्न करता है ॥ १८८ ॥

अनादिकालोऽयमहं स्वभावो जीवः समस्तव्यवहारवोढा । करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ॥ १८९ ॥

अहंकार स्वभाव संयुक्त अनादि कालका जो यह जीव है सो समस्त व्यवहारको प्राप्त करता है और पूर्व वासनासंयुक्त होकर पुण्य, पाप आदि सब कर्मको करता है और उसके फलको स्वयं भोगता है ॥ १८९ ॥

भुंक्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रजन्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः । अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्था सुखदुःखभोगः ॥ १९० ॥

यह जीव नाना तरहकी योनिमें घूमता हुआ परलोकको जाता है और इस लोकको भी आता है इस विज्ञानमय कोशकी जाग्रत स्वप्नादि अवस्था है सो सुख दुःखको अनुभव करता है ॥ १९० ॥

देहादिनिष्ठाश्रमधर्मकर्मगुणाभिमानं सततं ममेति । विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः । अतो भवत्येष उपाधिरस्य यदात्मधीः संसरति भ्रमेण ॥ १९१ ॥

यह विज्ञानमय कोश परमात्माके अत्यन्त सन्निहित रहनेसे सब

वस्तुओंका परम प्रकाशक है और देहमें रहनेवाला वर्णाश्रम धर्म कर्म गुणका और ममताका अभिमान सदा करता है । इसलिये देहादिमें जब भ्रमसे आत्मबुद्धि होती है तो आत्मा नाना तरहकी उपाधिको प्राप्त होकर संसारको प्राप्त होताहै ॥ १९१ ॥

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि स्फुरत्ययं ज्योतिः । कूटस्थः सन्नात्मा कर्त्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः ॥ १९२ ॥

जो यह विज्ञानमयकोश प्राणमें और हृदयमें ज्योतिःस्वरूपसे प्रकाशको प्राप्त होता है वही ज्योतीरूप कूटस्थ होनेसे आत्मा कहा जाता है और उपाधियुक्त होनेसे कर्त्ता भोक्ता होता है ॥ १९२ ॥

स्वयं परिच्छेदमुपेत्य बुद्धेस्तादात्म्यदोषेण परं मृषात्मनः । सर्वात्मकः सन्नपि वीक्षते स्वयं स्वतः पृथक्त्वेन मृदो घटानिव ॥ १९३ ॥

यद्यपि परमात्मा स्वयं सर्वात्मक सर्वस्वरूप है तथापि मिथ्यात्मक बुद्धिको तादात्म्य दोषको प्राप्त होनेसे देहस्थ जीवभावको प्राप्त होकर स्वयं अपनेको अलग देखता है । जैसे मृत्तिकासे अलग घट दीखता है । वास्तविक अलग नहीं है तैसे आत्मा किसीसे अलग नहीं है ॥ १९३ ॥

उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा ह्युपाधिधर्माननु भाति तद्गुणः ॥ अयोविकारानविकारिवह्निवत्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात् ॥ १९४ ॥

जैसे विकारयुक्त लोहेके संबन्ध होनेसे अग्नि भी विकारयुक्त दीखता है अर्थात् जैसी आकृति लोहेकी होती है तैसीही आकृति लोहेके संबन्ध होनेसे अग्निकी भी मालूम होती है परंतु अग्नि तो सदा अपने स्वभावसे एकरूपही रहता है तैसे परमात्मा सदा एकरूप है अनेक प्रकार उपाधिके सम्बन्ध वशसे उपाधिमें धर्म और गुणको अनुभव करता हुआ नानाही मालूम देता है ॥ १९४ ॥

शिष्य उवाच ।

भ्रमेणाप्यन्यथा वास्तु जीवभावः परात्मनः ।
तदुपाधेरनादित्वान्नानादेर्नाश इष्यते ॥ १९५ ॥

इतना उपदेश गुरुमुखसे सुनकर फिर शिष्य गुरुसे प्रश्न करता है कि, जो परमात्मा जीवभावको प्राप्त हुआ है सो भ्रमसे हो चाहे सत्य हो परन्तु जीवकी उपाधि अनादि है और जो अनादि है उसका नाश भी नहीं होता है ॥ १९५ ॥

अतोऽस्य जीवभावोपि नित्या भवति संसृतिः ।
न निवर्तेत तन्मोक्षः कथं मे श्रीगुरो वद ॥ १९६ ॥

उपाधिके अनादि होनेसे आत्माका जीवभाव और संसार ये दोनों नित्य हुए नित्य होनेसे ये दोनों निवृत्त न होंगे जब कि. निवृत्त न हुए तो मोक्ष कैसे होगा ॥ १९६ ॥

श्रीगुरुरुवाच ।

सम्यक्पृष्टं त्वया वत्स सावधानेन तच्छृणु ।
प्रामाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहितकल्पना ॥ १९७ ॥

शिष्यका समीचीन प्रश्न सुनकर गुरुजी बोले हे वत्स ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया तुम्हारे प्रश्नका उत्तर मैं कहताहूं सावधान होकर सुनो भ्रांतिसे मोहयुक्त जो परमात्मामें जीवभावकी कल्पना होती है सो कल्पना प्रामाणिकी नहीं है ॥ १९७ ॥

भ्रांतिं विना त्वसंगस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः ।
न घटेतार्थसम्बन्धो नभसो नीलतादिवत् ॥ १९८ ॥

जैसे आकाशमें श्यामता भ्रांति कल्पित है वास्तविकमें आकाशका कोई रूप नहीं है तैसे आकृतिसे रहित असङ्ग आत्माके विषयसंबन्धकी घटना भी करना अयोग्य है ॥ १९८ ॥

स्वस्य द्रष्टुर्निर्गुणस्याक्रियस्य प्रत्यग्बोधानन्द-
रूपस्य बुद्धेः । भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न
सत्यो मोहापाये नास्त्यवस्तुस्वभावात् ॥ १९९॥

स्वयं द्रष्टा गुणक्रियासे रहित बोधानन्दस्वरूप परमात्मामें भ्रान्तिसे जीवभाव प्राप्त होता है वास्तविक वह सत्य नहीं है मोहके नाश होनेपर स्वभावहीसे अनित्य वस्तु जीवभाव आदिका नाश होजाता है ॥ १९९ ॥

यावद्भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता मिथ्याज्ञानो-
ज्जृम्भितस्य प्रमादात् । रज्ज्वां सर्पो भ्रांतिकालीन
एव भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत् ॥ २०० ॥

जैसे रज्जुमें सर्पका भान होता है सो बुद्धिके प्रमादसे है जब तक भ्रांतिकी स्थिति है तबतकही सर्पकी सत्ता है भ्रांतिके नाश होनेपर सर्पबुद्धिका भी नाश होजाता है तैसे जबतक भ्रांति है तबतकही मिथ्याज्ञानकल्पित जीवसत्ता रहती है भ्रम नाश होनेपर जीवभाव नष्ट होकर केवल आत्मसत्ताकाही भान होताहै ॥ २०० ॥

अनादित्वमविद्यायाः कार्य्यस्यापि तथेष्यते ।
उत्पन्नायां तु विद्यायामाविद्यकमनाद्यपि ॥
प्रबोधे स्वप्नवत्सर्वं सहमूलं विनश्यति ॥ २०१ ॥

माया और मायाका कार्य्य ये दोनों अनादि हैं जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो अनादि भी मायाका कार्य्य माया सहित नष्ट हो जाता है जैसे स्वप्नावस्थाका सब कार्य्य निद्रा खुलनेपर नष्ट होजाताहै २०१॥

अनाद्यपीदं नो नित्यं प्रागभाव इव स्फुटम् ।
अनादेरपि विध्वंसः प्रागभावस्य वीक्षितः ॥ २०२ ॥

यद्यपि मायाकार्य्य सब अनादि है तथापि नित्य नहीं है क्योंकि प्रागभाव अनादि है परन्तु जिस वस्तुका अभाव रहता है उस वस्तुका

सद्भाव होनेसे उस अभावका नाश होता है तैसेही नित्यभी माया कार्य ज्ञान उत्पन्न होनेपर नष्ट होजाता है ॥ २०२ ॥

यद्बुद्ध्युपाधिसंबंधात्परिकल्पितमात्मनि ।
जीवत्वं न ततोऽन्यस्तु स्वरूपेण विलक्षणः ॥ २०३ ॥
सम्बन्धः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरःसरः २०४

बुद्धिका उपाधिसम्बन्ध होनेपर परमात्मामें जीवत्वकी कल्पना होती है उससे अन्यहेतु नहीं है मिथ्याज्ञानपूर्वक बुद्धिके साथ आत्मा स्वरूपसे विलक्षण सम्बन्ध होता है ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग् ज्ञानं श्रुतेर्मतम् ॥ २०५ ॥

समीचीन ज्ञान होनेपर जीवत्वभावकी विशेष निवृत्ति होजाती है विना सम्यक ज्ञानके नहीं होती है परब्रह्मसे अपनेको एकत्वबुद्धि होनेका नाम सम्यक् ज्ञान है ॥ २०५ ॥

तदात्मानात्मनोः सम्यग्विवेकेनैव सिध्यति ।
ततो विवेकः कर्त्तव्यः प्रत्यगात्मसदात्मनोः ।
जलं पंकवदत्यन्तं पङ्कापाये जलं स्फुटम् ॥ २०६ ॥

आत्मा और जीव इन दोनोंकी एकता सम्यक विवेकहीसे सिद्ध होती है इसलिये जीवात्मा परमात्माका विवेक करना चाहिये । जैसे पंकमिश्रित जलसे जब अत्यन्त पंकका नाश होता है तो निर्म्मलजल दीखता है तैसे जीवात्मा परमात्मामें विवेक करनेसे जीवत्वभावके नाश होनेपर केवल शुद्धपरमात्माका भान होता है ॥ २०६ ॥

असन्निवृत्तौ तु सदात्मना स्फुटं प्रतीतिरेतस्य भवेत्प्रतीचः । ततो निरासः करणीय एव सदात्मनः साध्वहमादिवस्तुनः ॥ २०७ ॥

अर्थात् वस्तुओंके निवृत्त होनेपर प्रत्यक्ष परमात्माकी आत्मरूपसे सदा स्पष्ट प्रतीति होती है आत्मवस्तुके प्रतीत होने बाद अहंकार आदि वस्तुसे सदा निरासही करना उचित है ॥ २०७॥

अतो नायं परात्मा स्याद्विज्ञानमयशब्दभाक् ।
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः ॥
दृश्यत्वाद्व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते२०८।

विज्ञानमयकोश आत्मा नहीं है क्योंकि विज्ञानमय कोश वृद्धिक्षय आदि विकारयुक्त है और जड है आवृत है दृश्य है व्यभिचारी अर्थात् एकरूपसे सदा वर्तमान नहीं रहता और अनित्य है आत्मामें सब हेतुसे भिन्न है अर्थात् आत्मा अविकारी चैतन्य अपरिच्छिन्न अर्थात् अनावृत नेत्रोंके अगोचर सर्वथा सर्वत्र एकरूपसे वर्तमान है इसलिये जो अनित्य विज्ञानमयकोश है सो नित्यपरमात्मा नहीं होसकता है ॥ २०८ ॥

आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमोज्जृम्भिता
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकःस्वेष्टार्थलाभादयः ।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपःस्वयं
भूत्वानन्दतियत्र साधुतनुभृन्मात्रःप्रयत्नंविना २०९॥

आनन्दके प्रतिविम्बसे संयुक्त यह शरीर तमोगुण वृत्तिसे रहित आनन्दमयकोश होताहै उसका प्रेम आदि गुण है अपने इष्टवस्तुओंका लाभ करताहै पुण्यात्मा मनुष्योंके पुण्यका उदय होनेसे स्वयं आनन्दस्वरूप होकर शोभता है जिस आनन्दस्वरूपमें पवित्रशरीरधारी महात्मा सब विना प्रयत्न आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥ २०९ ॥

आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फूर्तिरुत्कटा ।
स्वप्नजागरयोरीषादिष्टसंदर्शनादिना ॥ २१० ॥

सुषुप्ति अवस्थामें आनन्दमयकोशकी समीचीनरीतिसे स्फूर्त्ति होती है जाग्रत् अवस्था और स्वप्नावस्थामें इष्टवस्तुके दीखनेसे किंचित् आनन्दमय कोशकी स्फूर्त्ति होती है ॥ २१० ॥

नैवायमानन्दमयः परात्मा सोपाधिकत्वात्प्रकृते-
र्विकारात् । कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया विकार-
संघातसमाहितत्वात् ॥ २११ ॥

आनन्दमयकोश उपाधिसंयुक्त है और प्रकृतिका विकार है और सुकृत क्रियाका जो कार्य्य उसका कारण है और विकारसमूह संयुक्त है इसलिये आनन्दमयकोश परमात्मा नहीं है, आत्मा तो इन सब हेतुओंसे रहित है ॥ २११ ॥

पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः ।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते ॥२१२॥

युक्तियोंसे और श्रुतियोंसे पंचकोशमें जो आत्मबुद्धि फैलरही है उसके निषेध करनेसे चैतन्यस्वरूप केवल साक्षी परमात्मा अवशेष रहजाता है ॥ २१२ ॥

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरंजनः ।
सदानन्दः सविज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता ॥२१३॥

पञ्चकोशसे विलक्षण स्वयं प्रकाशस्वरूप जो यह आत्मा है सो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाका साक्षी निर्मल निर्विकार सदा आनन्दरूप है ऐसा आत्मरूपसे विद्वान्को समझना चाहिये ॥ २१३ ॥

शिष्य उवाच ।

मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु कोशेष्वेतेषु पञ्चसु ।
सर्वाभावं विना किञ्चिन्न पश्याम्यत्र हे गुरो ।
विज्ञेयं किमु वस्त्वास्ति स्वात्मनात्मविपश्चिता २१४॥

अङ्ग विनीत भावसे शिष्यका पुनः प्रश्न है कि, हे गुरो ! अन्न-मय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय, आनन्दमय इन पांचों कोशोंको मिथ्या समझके आत्मरूपसे निषेध होनेके पश्चात् वस्तु-मात्रका अभावही दीखता है दूसरा कुछ नहीं दीखता तो कौन ऐसी वस्तु है जिसको विद्वान पुरुष आत्मस्वरूप समझे ॥ २१४॥

श्रीगुरुरुवाच ।

सत्यमुक्तं त्वया विद्वन्निपुणोऽसि विचारणे ।
अहमादिविकारास्ते तदभावोऽयमप्यनु ॥ २१५ ॥

शिष्यके प्रश्नकी प्रशंसा करते हुए गुरु बोले हे विद्वन् ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया तुम आत्मविचारमें निपुण हो मैं तुमसे कहताहूं चित्त देकर सुनो अहंकार आदि जितने विकार हैं, उन विकारोंको मिथ्या समझके निषेध करनेके पश्चात् जो कुछ अव-शेष रहजाता है वही परमात्मा है ॥ २१५ ॥

सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते ।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया॥२१६॥

सम्पूर्ण अहंकार आदि विकारको जो अनुभव करता है जिसको दूसरा कोई अनुभव नहीं करसकता उन्हींको सूक्ष्मबुद्धिसे सुन्दर सर्वज्ञ परमात्मा जानो ॥ २१६ ॥

तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्येनानुभूयते ।
कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते ॥ २१७ ॥

जिस २ वस्तुका जो अनुभव करता है उस २ वस्तुका वह साक्षी होता है जिस वस्तुका जिसने नहीं अनुभव किया है उस वस्तुकी साक्षिता उसमें युक्त नहीं होती ॥ २१७ ॥

असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते ।
अतः परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः ॥२१८॥

यह आत्मा स्वयं अपनेको अनुभव करता है इस लिये स्वसाक्षिक कहा जाताहै इससे दूसरा साक्षात् स्वयं प्रत्यगात्मा नहीं है ॥ २१८ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योसौ समुज्जृम्भते प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तः स्फुरन्नेकधा । नानाकारविकारभागिन इमान्पश्यन्नहं धीमुखान्नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि ॥२१९॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें जो स्पष्ट प्रत्यक्षरूपसे उद्यत रहता है और अन्तःकरणमें अहं ऐसी प्रतीतिमें सदा भासता है और अनेक तरहका विकारयुक्त जो यह बुद्धि आदि है उसको देखता हुआ नित्यानन्द चैतन्यस्वरूपसे हृदयमें जो फुरता है उसीको आत्मा जानो ॥ २१९ ॥

घटोदके बिम्बितमर्कबिम्बमालोक्य मूढो रविमेव मन्यते । तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं भ्रान्त्याहमित्येव जडोऽभिमन्यते ॥ २२० ॥

जैसे घडेके जलमें सूर्य्यके प्रतिबिम्बको देखकर मूढजन उसी प्रतिबिम्बको सूर्य्य मानते हैं तैसे शरीरादि उपाधिमें स्थित जो चैतन्यका आभास अहंकार है उसी अहंकारको जड मनुष्य आत्मा समझते हैं वास्तविकमें वह अहंकार आदि आत्मा नहीं है ॥ २२० ॥

घट जल तद्गतमर्कबिम्बं विहाय सर्वं विनिरीक्ष्यतेऽर्कः । कूटस्थ एतात्त्रितयावभासकः स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा ॥ २२१ ॥

जैसे घट और जल व जलस्थ सूर्यका प्रतिबिम्ब इन सबोंको त्याग करनेसे तीनोंके प्रकाशक स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्य्यको विद्वान् लोग पृथक् देखते हैं ॥ २२१ ॥

देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेव विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम् । द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ॥ २२२ ॥

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्ममन्तर्बहिःशून्यमनन्यमात्मनः । विज्ञाय सम्यङ्निजरूपमेतत्पुमान्विपाप्मा विरजो विमृत्युः ॥ २२३ ॥

तैसे देह व बुद्धि व बुद्धिरूप गुहामें पडा हुआ चैतन्यका प्रतिबिम्ब इन तीनोंको छोडकर सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा सबका प्रकाशक स्थूल सूक्ष्म जगत्से विलक्षण नित्य व्यापक सबके अंतर्गत सूक्ष्मरूप अन्तर बाह्यसे रहित ऐसे समीचीन आत्मस्वरूपको जानकर मनुष्य पापसे रहित निर्मलही जन्मः मरणसे छूटजाता है ॥ २२२ ॥ २२३ ॥

विशोक आनन्दघनो विपश्चित्स्वयंकुतश्चिन्न बिभेति कश्चित् । नान्योऽस्ति पन्था भव बद्धमुक्तेर्विना स्वतत्त्वावगमं मुमुक्षो ॥ २२४ ॥

आत्मस्वरूपके जाननेसे विद्वान् शोकरहित आनन्दसंयुक्त होकर निर्भय होते हैं इसलिये मुमुक्षु पुरुषोंको भवबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय आत्मतत्त्व ज्ञानके विना दूसरा नहीं है ॥ २२४ ॥

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।
येन द्वितीयमानन्दं ब्रह्म संपद्यते बुधैः ॥ २२५ ॥

ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न अर्थात् मैं ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान होना यही भवबन्धसे मुक्त होनेका कारण है जिस ब्रह्मज्ञान होनेसे आनन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्मको विद्वान् लोग प्राप्त होते हैं ॥ २२५ ॥

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्त्तते पुनः
विज्ञातव्यमतः सम्यग्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ॥ २२६ ॥

ब्रह्मस्वरूप होनेसे विद्वान् फिर संसारमें जन्म नहीं पाते इसलिये सर्माचीन रीतिसे विद्वानोंको अपनेको ब्रह्मस्वरूप समझना चाहिये ॥ २२६ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम् ।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति२२७ ॥

सत्यज्ञानस्वरूप अनन्त विशुद्ध स्वतःसिद्ध सदा आनन्दस्वरूप सदा एकरस प्रत्यक्ष भेदरहित निरन्तर परब्रह्म सबसे अलग वर्त्तमान रहता है ॥ २२७ ॥

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात् ।
नह्यन्यदस्ति किञ्चित्सम्यक् परमार्थतत्त्वबोधदशायाम् ॥ २२८ ॥

आत्मतत्त्वबोध होनेपर ब्रह्मसे भिन्न सब वस्तुओंके अभाव होनेसे अद्वितीय परब्रह्मही सम्यक् दीखता है ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं दीखता ॥ २२८ ॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यक्ताशेषभावनादोषम् ॥ २२९ ॥

अज्ञानसे अनेकरूप जो यह सब संसार प्रतीत होता है सो ज्ञानदशामें संपूर्ण भावना दोषसे रहित होकर केवल ब्रह्मस्वरूपही दीखता है ॥ २२९ ॥

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात् । न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषाकल्पितनाममात्रः ॥ २३० ॥

यद्यपि मृत्तिकाका कार्यभूत घट है अर्थात् मृत्तिकासे उत्पन्न है परन्तु मृत्तिकासे भिन्न नहीं है क्योंकि सर्वत्र मृत्स्वरूपही दीखता है तथा घटका रूप भी घटसे अलग नहीं है मिथ्या कल्पित नाम मात्रही भिन्न है ॥ २३० ॥

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य संदर्शयितुं
न शक्यते । अतो घटः कल्पित एव मोहान्मृदेव
सत्या परमार्थभूता ॥ २३१ ॥

मृत्तिकासे भिन्न घटका स्वरूप कोई पुरुष नहीं दीख सकता है इसलिये घट और घटका रूप ये सब मोह कल्पित हैं परमार्थभूत मृत्तिकाही सत्य है ॥ २३१ ॥

सद्ब्रह्मकार्य्यं सकलं सदेव तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्य-
दस्ति । अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो
विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥ २३२ ॥

सत्यस्वरूप ब्रह्मसे उत्पन्न जो यह सकल जगत् है सो भी सत्यही है क्योंकि ब्रह्मसे अन्य दूसरा कुछ नहीं है जो कोई कहे कि ब्रह्मसेभी भिन्न कोइ वस्तु है उसको समझना कि इसका मोह नहीं गया निद्रित मनुष्यकी नाई इसका मिथ्या प्रजल्पना है ॥ २३२ ॥

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा
वरिष्ठा । तस्मादेतद्ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठाना-
द्भिन्नतारोपितस्य ॥ २३३ ॥

सबसे श्रेष्ठ जो अथर्वण वेद वाणी है सो कहती है कि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय है इसलिये यह विश्व ब्रह्मसे भिन्न नहीं है जैसे रज्जुमें जो सर्पका आरोप होता है वह आरोपित सर्प रज्जुसे भिन्न नहीं है तैसे ब्रह्ममें जो अज्ञानसे संसारका आरोप हुआ है वह आरोपित संसारभी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ २३३ ॥

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनो न तत्त्वहानिर्निग-
मप्रमाणता । असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नै-
तत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ॥ २३४ ॥

यह दृश्य जगत् यदि अपने स्वरूपसे सत्य होय तो आत्मतत्त्वकी कुछ हानि न होगी किन्तु जगत्को अनित्य प्रतिपादक वेदकी अप्रामाण्यता होगी और जगत्को अनित्य कहनेवाले ईश्वरभी मिथ्यावादी होंगे जगत्का सत्य होना, और वेदका अप्रामाण्य होना ईश्वरका मिथ्यावादी होना, ये तीनों बात किसी महात्माको अभीष्ट नहीं इसलिये जगत्को अनित्यही मानना युक्त है ॥ २३४ ॥

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः ।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीक्लृपत् ॥ २३५ ॥

यथार्थवस्तुका ज्ञाता ईश्वरही है हमलोग नहीं हैं और हमारेमें स्थित सब भूत नहीं किन्तु हमहीं भूतोंमें अवस्थित हैं ऐसीही कल्पना योग्य है ॥ २३५ ॥

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम् ।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ॥ २३६ ॥

यदि यह विश्व सत्य है तो सुषुप्तिकालमें भी इसकी उपलब्धि होनी चाहिये जबकि सुषुप्तिमें जगत्की उपलब्धि नहीं होती है, तो समझना चाहिये कि, जगत् अनित्य है और स्वप्नवत् मिथ्या है ॥ २३६ ॥

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः पृथक्
प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत् । आरोपितस्यास्ति
किमर्थवत्ताऽधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥ २३७ ॥

जैसे घटका रूप घटसे पृथक् नहीं है तैसे परमात्मासे पृथक् यह जगत् भी नहीं है पृथक् जो प्रतीत होता है सो भ्रममात्र है क्योंकि भ्रमसे शुक्तिमें जो रजतका आरोप होता है वह आरोपित रजतकी स्थिति शुक्तिकी स्थितिसे अलग नहीं दीखती किंतु शुक्तिरूपही है तसे ब्रह्ममें जगतकी प्रतीति भी ब्रह्मस्वरूपही है ॥ २३७ ॥

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः । इदं तथा ब्रह्म सदैव रूप्यते त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ॥ २३८ ॥

भ्रान्त पुरुषके भ्रमसे जो जो वस्तु प्रतीत होती है सो सब ब्रह्मरूपही है जैसे शुक्तिमें रजत प्रतीत होता है सो रजत शुक्तिस्वरूपही है इस प्रकारसे सदा ब्रह्मही निरूपित होते हैं और ब्रह्ममें जो नाना प्रकारका आरोप है सो केवल नाममात्रहीसे भिन्न है ॥ २३८ ॥

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरंजनम् । प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ॥ २३९ ॥ निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम् । अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति ॥ २४० ॥

इसलिये जो कुछ यह दृश्य जगत् है सो सब सत्य, अद्वितीय, विशुद्ध, विज्ञानघन, निर्मल, प्रशान्त, आदि अन्तसे हीन, क्रियारहित, सदा आनन्द रसस्वरूप, मायाकृत सब भेदोंसे अतिरिक्त, नित्य, सुखरूप, निष्कल, अप्रमेय, रूपरहित, अव्यक्त, नाश रहित, स्वयंप्रकाश, ज्योतिःस्वरूप यह परब्रह्मही प्रकाशित है ॥ २४० ॥

ज्ञातृज्ञेयज्ञानशून्यमनन्तं निर्विकल्पकम् । केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः ॥ २४१ ॥

ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान अर्थात् कर्त्ता कर्म क्रिया इन तीनोंसे शून्य, अनन्त, निर्विकल्प, केवल, अखण्ड, चैतन्यस्वरूप, परमात्मतत्त्वको विद्वान् लोग जानते हैं जैसे घट है तो उस घटका ज्ञाता मनुष्य होता है और उस घटका ज्ञान मनुष्यमें रहता है जब कि घट है ती

नहीं तो घटविषयक ज्ञानभी नही है और घटका ज्ञाता वह मनुष्यभी नहीं हो सकता तैसे आत्मासे अतिरिक्त जब कोई पदार्थ है ही नहीं तो आत्मा किस वस्तुका ज्ञाता होगा और कौन वस्तुका ज्ञान आत्मामें रहेगा इसी कारण आत्मा ज्ञातृज्ञेय ज्ञान शून्य है॥ २४१ ॥

अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णमहं महः ॥ २४२ ॥

त्याज्य ग्राह्यसे रहित मन और वचनका अविषय अप्रमेय आदि अन्तहीन परिपूर्ण तेजःपुंज ब्रह्म मैं हूं ऐसा अपनेको ज्ञानी पुरुषको समझना चाहिये ॥ २४२ ॥

तत्त्वंपदाभ्यामभिधीयमानयोर्ब्रह्मात्मनोः शोधितयोर्यदीत्थम् । श्रुत्यातयोस्तत्त्वमसीति
सम्यगेकत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ॥ २४३ ॥

तत्त्वमसि, यह वेदका महावाक्यभी जीवात्मा परमात्माके अभेदहीको प्रतिपादन करता है जैसे सर्वज्ञ विशिष्ट चैतन्य तत्पदका अर्थ है तथा अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य त्वंपदका अर्थ है इन दोनों अर्थोंके शोधन करनेसे अर्थात् अच्छी रीतिसे विचारा जाय तो तत्त्वमसि, यह श्रुति बार २ दोनोंके एकत्वहीको कहती है । जैसे कोई बोला कि वही यह बालक है इस वाक्यमें परोक्षकाल संयुक्त बालक वह पदका अर्थ है और वर्तमान काल संयुक्त बालक यह पदका अर्थ है इन दोनों अर्थोंमें जो विरुद्ध अंश है परोक्षकाल संयुक्त और वर्त्तमानकाल संयुक्त इन दोनो अंशोंको त्याग-करनेसे बालकही दोनोंमें अवशेष रहता है और इन दोनोंके अभेद करनेसे एकही बालकका बोध होता है तैसे तत्त्वमसि इस महावाक्यमें सर्वज्ञत्व विशिष्ट आत्मा तत् पदका अर्थ है अल्पज्ञत्व विशिष्ट आत्मा जो त्वंपदका अर्थ है इन दोनों अर्थोंमें जो विरुद्ध अंश सर्वज्ञत्व विशिष्ट अल्पज्ञत्व विशिष्ट है इन दोनों विरुद्ध

अंशका त्यागकर देनेसे जीवात्मा परमात्माकी एकता सिद्ध होती है इसीका नाम भागत्याग लक्षणा कही जाती है ॥ २४३ ॥

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययोर्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्म्मिणोः । खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः कूपाम्बुराश्योः परमाणुमेर्वोः ॥ २४४ ॥

जैसे अग्निमें अच्छे तपायाहुआ लोहेसे अलग अग्निका भाग नहीं मालूम होताहै तैसे अज्ञानकी वृत्तिसे छिपाहुआ आत्माका जबतक अलग विवेक नहीं होता तबतक सर्वज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर और अल्पज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका वाच्य अर्थ होताहै जब कि ज्ञानवृत्तिसे आत्माका अलग विवेक होता है तो वही आत्मा सर्वज्ञ और अल्पज्ञत्वरूप विरुद्ध भागका त्याग करनेसे शुद्ध चैतन्यरूप लक्षित अर्थ होताहै इस कारण शुद्ध चैतन्य 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका लक्ष्य अर्थ है यही विरुद्ध अंशसे रहित तत्पदका और त्वंपदका जा लक्षित अर्थ शुद्धचैतन्य इन्हीं दोनोंमें अभेदबोध होनेसे एकत्वज्ञान होता है और वाच्य अर्थ जो है सर्वज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर व अल्पज्ञत्व विशिष्ट ईश्वर इन दोनोंमें एकता नहीं होती है क्योंकि ये दोनों खद्योत और सूर्य्यके सदृश राजा व राजभृत्य कूप व महासरोवर, परमाणु व सुमेरु इन सबके सदृश परस्पर विरुद्धधर्मयुक्त हैं ॥ २४४ ॥

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः । ईशस्य माया महदादिकारणं जीवस्य कार्य्यं शृणु पञ्चकोशम् ॥ २४५ ॥

जीवात्मा और परमात्मा जो अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व आदि उपाधि है सो सब कल्पित है वास्तविक यह कोई उपाधि नहीं है माया और महत्तत्व आदि ईश्वरका कारण है और अन्नमय आदि पञ्चकोश जीवका कारण है ॥ २४५ ॥

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः सम्यङ्निरासे न परो न जीवः । राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक-स्तयोरपोहे न भटो न राजा ॥ २४६ ॥

माया और महत्त्व आदि जो परमात्माका उपाधि है और अन्नमय आदि पञ्चकोश जो जीवका उपाधि है इन दोनों उपाधिका सम्यक् निरास होनेसे न परमात्मा रहेगा न अलग जीवात्मा रहेगा जैसे राज्य करनेसे राजा कहा जाता है और वही सिकारमें जानेसे वीर कहा जाता है इन दोनों उपाधिके छोड देनेसे न राजा कहा जायगा न तो वीर कहा जायगा एकही मनुष्य-की आकृति दीखेगी तैसे उपाधिके नष्ट होनेसे एकही शुद्ध चैतन्य शेष रहेगा ॥ २४६ ॥

अथात आदेश इति श्रुतिः स्वयं निषेधति ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम् । श्रुतिप्रमाणानुगृहीतबोधात्तयो-र्निरासः करणीय एवम् ॥ २४७ ॥

परब्रह्ममें जो द्वैत भावना होरही है उस द्वैतभावनाको अर्थात् आदेश नेति नेति इत्यादि श्रुति साक्षात निषेध करती है इसलिये श्रुतियोंका प्रमाणसे बोधसम्पादन करके उक्तरीतिसे द्वैतका निरास ही करना चाहिये ॥ २४७ ॥

नेदं नेदं कल्पितत्वान्न सत्यं रज्जुदृष्टव्यालव-त्स्वप्नवच्च । इत्थं दृश्यं साधु युक्त्या व्यपोह्य ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्यः ॥ २४८ ॥

जैसे रज्जुमेंका देखा सर्प और स्वप्नावस्थाके देखे नाना पदार्थ सत्य नहीं हैं तैसे अज्ञानकल्पित यह जगत् सत्य नहीं है ऐसा समी-चीन युक्तियोंसे दृश्य जगत्का निषेध करके पश्चात जीवात्मा परमा-त्माका जो एकत्व भाव है वही शुद्ध चैतन्य परब्रह्म है ॥ २४८ ॥

तातस्तु तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ तयोरखण्डैकरसत्वसिद्धये । नालं जहत्या न तथाऽजहत्या किन्तूभयार्थात्मिकयैव भाव्यम् ॥ २४९ ॥

जीवात्मा परमात्माका, अखण्ड एकरसत्व सिद्ध होनेके लियें महावाक्यमें भागत्यागलक्षणा करना इसी लक्षणासे परमात्मा लक्षित होता है इसीका नाम जहदजहत् लक्षणाभी है यहां केवल जहत् लक्षणा अथवा अजहत् लक्षणा नहीं होती क्योंकि जहत् लक्षणा वहां होती है जैसे कोई कहता है कि गंगामें ग्राम है यह वाक्य सुनकर श्रोताने विचार किया कि गंगापदका प्रवाह अर्थ है तो प्रवाहमें ग्राम होना असंभव है इस लिये गंगापदका जो मुख्य अर्थ है प्रवाह उसका त्यागकर तीरमें लक्षणा होती है अजहत् लक्षणाभी वहीं होती है जैसे कोई कहता है कि श्वेत दौडता है यह वाक्य सुनकर श्वेत गुणका दौडना असम्भव है इस लियें श्वेतगुण संयुक्त वाक्यमें लक्षणा होती है । तत्त्वमसि इस महावाक्यमें तो चैतन्यरूप अर्थ तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ दोनोंमें वर्त्तमान रहता है और सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व रूप विरुद्ध भागका दोनोंमें त्याग होता है इस लिये जहदजहल्लक्षणा यहां जानना २४९॥

स देवदत्तोऽयमितीह चैकता विरुद्धधर्म्मांशमपास्य कथ्यते । यथा यथा तत्त्वमसीति वाक्ये विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा ॥ २५० ॥

जैसे वही यह देवदत्त है इस वाक्यमें तत्कालीन और एतत्कालीनरूपविरुद्ध धर्मको त्यागकर एकही देवदत्तका बोध होता है तैसे तत्त्वमसि इस वाक्यमें उक्तरीतिसे परोक्षत्वरूप विरुद्ध धर्मका दोनों पदार्थोंमें उक्तरीतिसे परोक्षत्व अपरोक्षत्वरूप विरुद्ध धर्मका दोनों पदार्थोंमें त्याग करनेसे चैतन्यांशमें एकता होती है ॥ २५० ॥

संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनोरखण्डभाव-
परिचीयते बुधैः । एवं महावाक्यशतेन कथ्यते
ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः ॥ २५१ ॥

जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंमेंसे विरुद्ध अंशको छोड़ कर दोनों चैतन्य अंशको विद्वान् लोग एकत्व निश्चय करते हैं इसी तरहसे सैकड़ों महावाक्य जीवात्मा परमात्माके एकत्वभा-वहीको स्पष्ट कहते हैं ॥ २५१ ॥

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य सिद्धं स्वतो व्योमव-
दप्रतर्क्यम् । अतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं जहीहि
यत्स्वात्मतया गृहीतम् । ब्रह्माहमित्येव विशुद्ध-
बुद्ध्या विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ॥ २५२ ॥

'प्रत्यक् अस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमनाः' इस श्रुतिसे अनित्यस्थूल पदार्थोंके निरास करनेसे आकाश सदृश व्यापक तर्करहित चैत-न्य सिद्ध होता है इसलिये आत्मरूपसे गृहीत जो मिथ्या प्रती-तिमात्र देहादि वस्तुमें आत्मबुद्धि होरहीहै उस बुद्धिके त्याग करो और मैं ब्रह्म हूं ऐसे विशुद्ध बुद्धिसे अपनेको अखण्ड बोधरूप चैतन्य आत्मा समझो ॥ २५२ ॥

मृत्कार्य्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाहितं
तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखि-
लम् । यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं
स आत्मा स्वयं तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं
ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥ २५३ ॥

जैसे सम्पूर्ण घटादि मृत्तिकाका कार्य्य है और घटके नाश होनेसे सर्वथा मृत्तिकाही वर्त्तमान रहती है इसी तरह सत्से उत्पन्न यह जगत् सदात्मक है जिस सत्से अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है वह

तत्स्वरूप साक्षात् आत्मा है इसलिये वही प्रशांत निर्मल अद्वितीय परब्रह्म तुम हो ॥ २५३ ॥

निद्राकल्पितदेशकालविषयज्ञात्रादि सर्वं यथा मिथ्या तद्वदिहापि जाग्रति जगत्स्वाज्ञानकार्य्यत्वतः । यस्मादेवमिदं शरीरकरणप्राणाहमाद्य-प्यसत्तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥ २५४ ॥

जैसे निद्राकल्पित देश काल सम्पूर्ण विषय ज्ञान ज्ञाता आदि सब मिथ्या है तैसेही जाग्रत अवस्थामें अपनी अज्ञानतासे कल्पित यह जगत् मिथ्या है इसी तरहसे यह शरीर और इन्द्रियगण प्राण और अहंकार आदि सब मिथ्या हैं जब ये सब मिथ्या हुए तो वही शान्तस्वरूप निर्मल अद्वितीय परब्रह्म तुम हो ॥ २५४ ॥

जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं नामरूपगुणदोषवर्जि-तम् । देशकालविषयातिवर्त्ति यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५५ ॥

ब्राह्मण आदि जाति और ऐसा करना ऐसा न करना यह नीति कुल गोत्र इन सबसे रहित तथा नाम रूप गुण दोष इन सबसे वर्जित देश काल विषय आदिसे अलग जो परब्रह्म है वही ब्रह्म तुम हो इसी ब्रह्मको अपनेमें भावना करो ॥ २५५ ॥

यत्परं सकलरागगोचरं गोचरं विमलबोधचक्षुषः । शुद्धचिद्घनमनादि वस्तु यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५६ ॥

सकल रागगोचर अर्थात् प्रेमास्पद तथा विमल जो बोधरूप नेत्र इसके गोचर शुद्ध चैतन्य घन अनादि वस्तु जो परब्रह्म है वही ब्रह्म तुम हो ऐसा अपनेको अपनेमें विचार किया करो॥ २५६॥

षड्भिरूर्मिभिरयोगियोगिहृद्भावितं न करणैर्विभावितम् । बुद्ध्यवेद्यमनवद्यमस्ति यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५७ ॥

राग द्वेष आदि छः ऊर्मियोंसे रहित और योगियोंके हृदयसे विचारित और नेत्र आदि इन्द्रियोंके अगोचर और बुद्धिकाभी अविषय ऐसा जो परब्रह्म सो तुम्ही हो और ऐसाही अपनेको समझो ॥ २५७ ॥

भ्रान्तिकल्पितजगत्कलाश्रयं स्वाश्रयं च सदसद्विलक्षणम् । निष्कलं निरुपमानबुद्धि यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५८ ॥

भ्रान्तिसे कल्पित जो जगत् उसका आधार और आत्मभिन्न आधारसे रहित स्थूल सूक्ष्म जगत्से विलक्षण निःकलंक उपमानसे रहित जो परब्रह्म सो तुम्ही हो ऐसा अपनेको मानो ॥ २५८ ॥

जन्मवृद्धिपरिणत्यपक्षयव्याधिनाशनविहीनमव्ययम् । विश्वसृष्ट्यवविघातकारणं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५९ ॥

जन्म वृद्धि परिणति अर्थात् स्थूल क्षीण व्याधि नाश इन सबसे विहीन सदा एक रस संसारकी जो सृष्टि और विनाश इनका कारण जो परब्रह्म सो तुम्ही हो ऐसाही अपनेको समझो ॥ २५९ ॥

अस्तभेदमनपास्तलक्षणं निस्तरंगजलराशिनिश्चलम् । नित्यमुक्तमविभक्तमूर्त्ति यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६० ॥

अस्त आदि दोषसे भिन्न तरंगरहित निश्चल जलराशिके समान गंभीर नित्यमुक्त और विभागसे रहित सदा एक मूर्ति जो परब्रह्म सो तुम्ही हो ऐसाही अपनेको समझो ॥ २६० ॥

एकमेव सदनेककारणं कारणान्तरनिरास्य कारणम्। कार्य्यकारणविलक्षणं स्वयं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६१ ॥

स्वयं एकही होकर अनन्तानन्त जगत्का कारण और दूसरे कारणका नाश करनेमें कारण और कार्य्य कारणसे विलक्षण जो स्वयं ब्रह्म है सो तुम्हीं हो ॥ २६१ ॥

निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं यत् क्षराक्षरविलक्षणं परम् । नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं ब्रह्मतत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६२ ॥

विकल्पसे रहित सर्वव्यापक नाशरहित क्षर अक्षरसे विलक्षण नित्य अव्यय सुखस्वरूप निर्मल जो परब्रह्म है सो तुम्हीं हो ॥ २६२ ॥

यद्विभाति सदनेकधा भ्रमान्नामरूपगुणविक्रियात्मना । हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६३ ॥

जैसे सुवर्ण अपने विकाररहित तो है परन्तु भ्रमसे कटक कुण्डल आदि नानाप्रकारके रूप नामको प्राप्त होता है तैसे जो परब्रह्म स्वयं विकाररहित एक है तथापि भ्रमसे अनेक तरहका नाम, रूप, गुण क्रिया रूपसे अनन्तानन्त मालूम होता है वह ब्रह्म तुम्हीं हो ॥ २६३ ॥

यच्चकास्त्यनपरं परात्परं प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम् । सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६४ ॥

प्रकृति आदिसे परे प्रत्यक्ष एकरस आत्मस्वरूप सत्य चित्स्वरूप सुखात्मक अनन्त अव्यय जो परब्रह्म सो तुम्हीं हो ॥ २६४ ॥

उक्तमर्थमिममात्मनि स्वयं भावयेत्प्रथितयुक्तिभिर्धिया ।
संशयादिरहितं कराम्बुवत्तेन तत्त्वनिगमो भविष्यति ॥

पूर्वोक्त अर्थको अच्छी युक्तिपूर्वक बुद्धिसे अपनेमें आत्मवस्तुको विचारनेसे हस्तगत जल आदिके सदृश संशय रहित होनेसे आत्मवस्तुका साक्षात् बोध होता है ॥ २६५ ॥

संबोधमात्रं परिशुद्धतत्त्वं विज्ञाय संघे नृपवच्च
सैन्ये । तदाश्रयः स्वात्मनि सर्वदा स्थितो
विलापय ब्रह्मणि विश्वजातम् ॥ २६६ ॥

जैसे सैन्यके मध्यमें सर्वोपरि विराजमान एक आत्मा होता है तैसे संसारसमूहमें परिशुद्ध सम्यक् बोधमात्र आत्मतत्त्वको जानकर और उसी आत्मतत्त्वका आश्रय होकर आत्मामें सदा स्थित होकर जायमान सम्पूर्ण विश्वको ब्रह्महीमें लीन करो ॥ २६६ ॥

बुद्धौ गुहायां सदसद्विलक्षणं ब्रह्मास्ति सत्यं
परमद्वितीयम् । तदात्मना योऽत्र वसेद्गुहायां
पुनर्न तस्याङ्गगुहाप्रवेशः ॥ २६७ ॥

बुद्धिरूप कन्दरामें सत् असत्से विलक्षण सत्य अद्वितीय जो परब्रह्म है उन्हीं परब्रह्मका रूप होकर जो मनुष्य बुद्धिरूप कंदरामें वास करेगा उस मनुष्यका फिर उस कन्दरामें प्रवेश अर्थात फिर जन्म न होगा ॥ २६७ ॥

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनानादिरेषा
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः ।
प्रत्यग् दृष्ट्यात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्ना-
न्मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासना तानवं यत् २६८॥

आत्मवस्तुके जाननेपरभी हम कर्ता हैं हम भोक्ता हैं ऐसी प्रबल अनादि दृढ वासनाका जब तक त्याग नहीं हुआ तबतक फिर संसार भोग करना पडता है क्यों कि जीवका संसार प्राप्त होनेमें प्रबल वासनाही कारण है इसलिये प्रत्यक् दृष्टिसे आत्मामें निवास करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि प्रयत्नसे वासनाको त्याग करे क्यों कि वासनाका क्षीण होना यही मोक्ष है ऐसा आचार्योंका मत है २६८॥

अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि ।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया २६९

देह और नेत्र आदि इन्द्रिय जितने अनात्म वस्तु हैं उनमें जो अहं मम ऐसी भावना हुई है उस भावनाको आत्मनिष्ठासे विद्वानको अवश्य निरास करना चाहिये ॥ २६९ ॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्या नात्मन्यात्ममतिं जहि ॥२७०॥

बुद्धि और बुद्धिके वृत्तिका साक्षी प्रत्यक्ष आत्मा अपनेको जान कर वही ब्रह्म मैं हूँ ऐसी समीचीन वृत्तिसे देह आदि अनात्म वस्तुओंमें जो आत्मबुद्धि फैली है सो त्याग करो ॥ २७० ॥

लोकानुवर्त्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्त्तनम् ।
शास्त्रानुवर्त्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥२७१॥

लोकवासनाको और देहवासनाको और शास्त्रवासनाको छोड कर आत्मामें जो संसारका अध्यास है सो त्याग करो ॥ २७१ ॥

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥ २७२ ॥

लोकवासना, और शास्त्रवासना,देहवासना इन तीनों वासनाके रहते मनुष्योंको यथावत् ज्ञान नहीं होता है ॥ २७२ ॥

संसारकारागृहमोक्षमिच्छोरयोमयं पादनिबंधशृङ्खलम् । वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासनात्रयं योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ॥ २७३ ॥

संसाररूप कारागारसे मोक्ष होनेकी इच्छा करते हुए मनुष्योंको पैर बांधनेके निमित्त लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना ये तीनों वासना लोहेका प्रबल शृंखलासे जो मनुष्य मुक्त होता है वही मोक्षभागी होता है ॥ २७३ ॥

जलादिसम्पर्कवशात्प्रभूतदुर्गन्धधूतागरुदिव्यवासना । संघर्षणेनैव विभाति सम्यग्विधूयमाने सति बाह्यगन्धे ॥ २७४ ॥

जैसे अगरु आदि दिव्य गन्ध युक्त कोई काष्ठको जल आदि अन्य वस्तुओंका अधिक संसर्ग होनेसे उस अन्य वस्तुका दुर्गंध चन्दन काष्ठमें मिल जाता है बाद उस बाह्य दुर्गंधको अच्छी तरह धोनेसे उस चन्दनको घिसनेपर फिर सुन्दर गन्ध निकलता है ॥ २७४ ॥

अन्तःश्रितानन्तदुरन्तवासनाधूलीविलिप्ता परमात्मवासना । प्रज्ञातिसंघर्षणतो विशुद्धा प्रतीयते चन्दनगन्धवत्स्फुटम् ॥ २७५ ॥

अन्तःकरणमें प्राप्त जो अनन्त दुर्वासनारूप धूली है इस दुर्वासनारूप धूलीसे आवृत जो परमात्माकी वासना है सो जब बुद्धिके अत्यन्त संघर्ष होनेसे विशेष शुद्ध होती है तो चन्दनके गन्धतुल्य स्पष्ट प्रतीत होतीहै ॥ २७५ ॥

अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना ।
नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशो भाति स्वयं स्फुटम् २७६ ॥

देह आदि अनात्मवस्तुके वासनासमूहसे आत्मवासना जब अन्तरहित होजावे तो नित्य आत्माकी निष्ठामे देह आदि तीनों वासनाके नाश करनेसे फिर आत्मवासना स्पष्ट मालूम होती है ॥ २७६ ॥

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुञ्चति
बाह्यवासनाम् । निश्शेषमोक्षे सति वासनानाम्
आत्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ॥ २७७ ॥

प्रत्यक्ष परब्रह्ममें मन जैसे जैसे स्थिर होता है तैसे तैसे देह आदि बाह्यवासनाका मन त्याग करता है जब मनसे सब वासना दूर होती हैं तो प्रतिबन्धकसे रहित निरन्तर आत्माका अनुभव होताहै ॥ २७७ ॥

स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः ।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७८॥

चित्तवृत्तिको निरोधकर केवल आत्मवस्तुमें स्थिर होनेसे मनका नाश होता है मनके नाश होनेपर बाह्यवासना क्षीण होतीहै जब बाह्यवासना दूर हुई तो आत्मामें जो जगत्का अध्यास होरहाहै उस अध्यासको त्याग करो ॥ २७८ ॥

तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात्सत्त्वं शुद्धेन नश्यति ।
तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७९॥

रजोगुण और सत्त्वगुण इन दोनोंसे तमोगुणका नाश होता है और सत्त्वगुणसे रजोगुणका नाश होता है और शुद्ध चैतन्यसे सत्त्वका नाश होता है इसलिये सत्त्वगुणको अवलम्बन करके आत्मामें जो जगत्का अध्यास याने भ्रम होरहा है उसको त्याग करो ॥२७९॥

प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चलः ।
धैर्यमालम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनयं कुरु॥२८०॥

प्रारब्धही शरीरका पोषण करता है ऐसा निश्चय कर अचल

ताको छोड यत्नमें धैर्यको अवलम्बन कर आत्मामें जो जगत्का अध्यास है उसको दूर करो ॥ २८० ॥

नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यतद्व्यावृत्तिपूर्वकम् ।
वासनावेगतः प्राप्तः स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ २८१॥

मैं जीव नहीं हूं मैं साक्षात् परब्रह्म हूं ऐसा परब्रह्ममें जीवभावको निषेध कर वासनावेगसे प्राप्त जो आत्मामें जीवका अध्यास है उसको दूर करो ॥ २८१ ॥

श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ।
क्वचिदाभासतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८२॥

श्रुतियोंसे और युक्तियोंसे अपने अनुभवसे अपनेको सर्वस्वरूप समझके मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त जो आत्मामें जगत्का अध्यास उसको त्याग करो ॥ २८२ ॥

अनादानविसर्गाभ्यामीषन्नास्ति क्रिया मुनेः ।
तदेकनिष्ठया नित्यं स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८३॥

दूसरेसे द्रव्यादि अपनेको न लेना और दूसरेको देना इन दोनों क्रियासे अतिरिक्त कोई क्रिया मुनिलोगोंके लिये नहीं है इसलिये इन दोनोंमेंसे एकक्रियामें सदा निष्ठा कर आत्मामें जो अध्यास है उसे छोडो ॥ २८३ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थब्रह्मात्मैकत्वबोधतः ।
ब्रह्मण्यात्मत्वदार्ढ्याय स्वाध्यासापनयं कुरु॥२८४॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्यसे उत्पन्न जो ब्रह्म और आत्माका एकत्व बोध उस बोधसे ब्रह्ममें आत्मबुद्धि दृढ होनेके लिये आत्मा जगत अध्यासको त्याग करो ॥ २८६ ॥

अहंभावस्य देहेऽस्मिन्निःशेषविलयावधि ।
सावधानेन युक्त्यात्मा स्वाध्यासापनयं कुरु॥२८५॥

इस देहमें जो अहंबुद्धि होरही है उस अहंभावका जबतक निःशेष लय हो तबतक सावधान होकर अपनी युक्तियोंसे आत्माके अध्यासको दूर करो ॥ २८५ ॥

प्रतीतिर्जीवजगतोः स्वप्नवद्भाति यावता ।
तावन्निरन्तरं विद्वन् स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८६॥

हे विद्वन् ! जबतक जीव और जगत्की प्रतीति स्वप्नवत् दीखे तबतक निरंतर आत्मविषयक अध्यासको दूर करो ॥२८६॥

निद्राया लोकवार्त्तायाः शब्दादेरपि विस्मृतेः ।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिंतयात्मानमात्मनि ॥ २८७ ॥

निद्रा और लोककी वार्त्ता और शब्द स्पर्श आदि विषय इन सबका विस्मरण होनेपर कहीं भी अवसर न देकर अर्थात् सर्वथा विषयोंको विस्मरण कर आत्माको अपनेमें चिंतन करो ॥ २८७॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥२८८॥

मातापिताके मलसे उत्पन्न और मलमांससे भरे इस शरीरको चाण्डालके नाई दूरहीसे त्यागकर ब्रह्ममय होकर कृतकृत्य हो जावो ॥ २८८ ॥

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि ।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥२८९॥

हे मुने ! जैसे घटके नाश होनेपर घटका आकाश महाआकाशमें लीन होता है तैसे जीवात्माको परमात्मामें लय कर अखण्ड स्वरूप होकर सदा मौन धारण करो ॥ २८९ ॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयं भूय सदात्मना ।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् २९०

स्वयं प्रकाशरूप जो जगत्का अधिष्ठान परब्रह्म है तद्रूप स्वयं होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको मलसे भरा भाण्डकी नाईं त्याग करो२९०

चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम् ।
विवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥ २९१ ॥

देहमें जो अहंबुद्धि फैल रही है सो सदा आनन्दरूप चिदात्मामें निवेश कर प्रमाण आदिको छोडकर केवल चैतन्यरूपसे सदा स्थिर रहो ॥ २९२ ॥

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यति ॥ २९२ ॥

जैसे दर्पणके भीतर पुरग्रामका प्रतिबिम्ब दीखता है तैसे जिस ब्रह्ममें जगत्का आभास हो रहा है वह ब्रह्म में हूं ऐसा अपनेको जाननेसे कृतकृत्य होंगे ॥ २९२ ॥

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं चिदद्वयानन्दमरूप-
मक्रियम् । तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजेत शैलूषव-
द्वेषमुपात्तमात्मनः ॥ २९३ ॥

सत्यभूत जो चैतन्य अद्वयानन्द रूपक्रियासे रहित आद्य आत्मरूप है उस रूपको प्राप्त होकर कृत्रिमनटके रूपके समान मिथ्याभूत इस शरीरको त्याग करो ॥ २९३ ॥

सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव नैवाहमर्थः क्षणिक-
त्वदर्शनात् । जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीतिः
कुतोऽहमादेः क्षणिकस्य सिद्ध्येत् ॥ २९४ ॥

सम्पूर्ण यह दृश्य जगत् मिथ्या है और अहंपदका अर्थ देह आदि स्थूल जगत नहीं है क्योंकि यह सब क्षणिक दीखता है कदाचित् कहो कि क्षणिक दृश्यमान जगत् अहं पदका अर्थ है तो मैं सब जानताहूं ऐसी प्रतीतिकी सिद्धि क्षणिक अहमादिकों कैसे होगी ॥ २९४ ॥

अहंपदार्थस्त्वहमादिसाक्षी नित्यं सुषुप्तावपि

भावदर्शनात् । ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः
स्वयं तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः ॥ २९५ ॥

अहंकार आदिका साक्षी व नित्य जो सुषुप्ति कालमेंभी वर्त्तमान रहता है वही सत् असत्से विलक्षण सर्वव्यापी आत्मा अहंपदका अर्थ है क्योंकि "अजो नित्यः शाश्वतः" इत्यादि साक्षात् श्रुति भी स्पष्ट कहती है ॥ २९५ ॥

विकारिणां सर्वविकारवेत्ता नित्याविकारो भवितुं
समर्हति । मनोरथस्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटं पुनः
पुनर्दृष्टमसत्त्वमेतयोः ॥ २९६ ॥

अहंकार आदि जितने विकारी हैं उनके विकारके ज्ञाता ईश्वर सदा विकारसे रहित हैं मनोरथ और स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें स्पष्ट वारंवार विकारियोंकी असत्ताही देखी जाती है ॥२९६॥

अतोऽभिमानं त्यज मांसपिण्डे पिण्डाभिमा-
निन्यपि बुद्धिकल्पिते । कालत्रयाबाध्यमखण्ड-
बोधं ज्ञात्वा स्वमात्मानमुपैहि शान्तिम् ॥ २९७ ॥

इसलिये बुद्धिकल्पित पिण्डाभिमानी मांसपिण्ड शरीरके अभिमानको त्याग करो और भूत भविष्य वर्त्तमान इन तीनों कालमें सदा वर्त्तमान भेदरहित चैतन्य आत्मा अपनेको जानकर शान्तिको प्राप्त हो जावो ॥ २९७ ॥

त्यजाभिमानं कुलगोत्रनामरूपाश्रमेष्वार्द्रशवा-
श्रितेषु । लिङ्गस्य धर्मानपि कर्तृतादींस्त्यक्त्वा
भवाखण्डसुखस्वरूपः ॥ २९८ ॥

आर्द्र शवरूप शरीरका आश्रित जो कुलनाम गोत्ररूप आश्रम हैं इन सबके अभिमानको त्याग करो और सप्तदश अवयवका जो

लिंगशरीर है उसके कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मको त्यागकर अखण्ड सुख स्वरूपको प्राप्त होजावो ॥ २९८ ॥

सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः ।
तेषामेवं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः ॥२९९॥

परमात्माको संसार प्राप्त होनेका कारण बहुतसा प्रतिबन्धक दृष्ट हैं उन प्रतिबन्धकोंका मूल प्रथम विकार अहंकार है क्योंकि अहंकारहीसे सबका प्रादुर्भाव होता है ॥ २९९ ॥

यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहंकारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्त्ता विलक्षणा ॥ ३०० ॥

दुरात्मा अहंकारके साथ जबतक आत्मासे सम्बन्ध रहता है जबतक मुक्तिवार्त्ताका लेशमात्र भी होना विलक्षण है मोक्ष होना तो सर्वथा कठिन है ॥ ३०० ॥

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयं प्रभुः ॥३०१॥

जैसे राहुग्रहसे मुक्त होनेपर चंद्रमा प्रकाशमान परिपूर्ण अपने रूपको प्राप्त होता है तैसे आत्मा अहंकाररूप ग्रहके मुक्त होनेपर निर्मल परिपूर्ण सदा आनन्द स्वरूप स्वयं प्रकाशक अपने स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३०१ ॥

यो वा पुरे सोहमिति प्रतीतो बुद्ध्या प्रक्लृप्तस्तमसा-
तिमूढया । तस्यैव निःशेषतया विनाशे ब्रह्मात्मभाव-
प्रतिबन्धशून्यः ॥ ३०२ ॥

तमोगुणसे अतिमोहको प्राप्त हुई बुद्धिसे इस शरीरमें अहं ऐसा जो प्रतीत हुआ है उस प्रतीतका निःशेष विनाश होनेसे प्रतिबन्धकसे शून्य ब्रह्ममें आत्मभाव होता है ॥ २०३ ॥

ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताऽहंकारघोराहिना संवेष्ट्या-
त्मानि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः । विज्ञा-

नाख्यमहाऽसिना श्रुतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं निर्मू-
ल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः॥ ३०३॥

ब्रह्मानन्दरूप एक उत्तम द्रव्यको महाबलवान अहंकाररूप भयंकर सर्प सत्त्वरजस्तमरूप कोपयुक्त तीन मस्तकसे संवेष्टन कर रक्षा करता है जो धीर पुरुष श्रुतियुक्त ज्ञानरूपी महाखड्गसे अहंकाररूप सर्पका त्रिगुणात्मक तीनों मस्तकको छेदनकर निर्मूल सर्पका नाश करेगा वही धीर पुरुष ब्रह्मानंद महोदधिका परमसुख भोगनेमें समर्थ होगा ॥ ३०३ ॥

यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे। कथमारो-
ग्याय भवेत्तद्वदहंतापि योगिनो मुक्त्यै ॥ ३०४॥

जबतक थोडाभी विषका दोष शरीरमें रहता है तबतक वह शरीर आरोग्य नहीं होता तैसे जबतक योगीका अहंकार निःशेष न होगा तबतक मोक्ष होना कठिन है ॥ ३०४ ॥

अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादिदमहमस्मीति विन्दते तत्त्वम् ॥ ३०५॥

अहंकारकी अत्यन्त निवृत्ति होनेसे और अहंकारकृत नाना तरहका विकल्पका नाश होनेसे तथा आत्मतत्त्वके विवेक होनेसे यह मैं हूं ऐसा तत्त्व लाभ होता है ॥ ३०५ ॥

अहंकारे कर्तर्यहमिति मतिं मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि ।
यदध्यासात्प्राप्ता जनिमृतिजरादुःखबहुला
प्रतीचश्चिन्मूर्तेस्तव सुखतनोः संसृतिरियम् ॥ ३०६॥

हे शिष्य ! विकारात्मक और आत्मप्रतिबिम्बसंयुक्त और आत्मसत्ताको छिपानेवाला जो जगत्का कारण अहंकार है उससे अहं

बुद्धिको हठसे त्याग करो क्योंकि उसी अहंकारका अध्यास आत्मा-में पड़नेसे व्यापक और चैतन्य मूर्ति सुखात्मक तुम्हें जन्ममरण जरा आदि अनेक दुःखयुक्त यह संसार भोगना पडता है ॥ २०६ ॥

सदैकरूपस्य चिदात्मनो विभोरानन्दमूर्तेरनवद्यकीर्तेः । नैवान्यथा क्वाप्यविकारिणस्ते विनाहमध्यासममुष्य संसृतिः ॥ २०७ ॥

जबतक अहंकार अध्यास आत्मामें नहीं होता तबतक सदा एकरूप, चैतन्यात्मक, सर्वव्यापक, आनन्दमूर्ति और पवित्र कीर्ति विकारसे रहित तुमको संसारभावना नहीं होती अर्थात् अहंकारका अध्यास पड़नेहीसे तुमको संसार प्राप्त है अन्यथा संसार है नहीं ॥ २०७ ॥

तस्मादहंकारमिमं स्वशत्रुं भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् । विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥ २०८ ॥

हे विद्वन् ! इस कारणसे भोक्ता पुरुषके गलेमें काटेके सदृश दुःखप्रद प्रतीयमान अहंकाररूप अपने शत्रुको विज्ञानरूप महाखड्ग से छेदन करि आत्मसाम्राज्य सुखको यथेष्ट भोग करो ॥ २०८ ॥

ततोऽहमादेर्विनिवर्त्य वृत्तिं संत्यक्तरागः परमार्थलाभात् । तूष्णीं समास्वात्मसुखानुभूत्या पूर्णात्मना ब्रह्मणि निर्विकल्पः ॥ २०९ ॥

अहंकारके नाश होनेके बाद अहंकारकी जो कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि वृत्ति है उसको त्याग करि परमार्थ वस्तुके लाभ होनेसे सम्यक् रागको भी त्याग करि और आत्मवस्तुका अनुभव होनेसे विकल्प रहित पूर्ण आत्मरूपसे मौन होकर सुखका आस्वादन करो ॥ २०९ ॥

स मूलकृत्तोऽपि महानहं पुनर्व्युल्लेखितः स्याद्यदि

चेतसा क्षणम् । सञ्जीव्य विक्षेपशतं करोति
नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा ॥ ३१० ॥

[illegible]सा प्रबल यह अहंकार है कि समूल नाश होनेपर भी थोर[illegible] चित्तका संघर्ष होनेसे क्षण मात्रमें संजीवित होकर सैकड़ों विक्षे[illegible] बढ़ाता है जैसे वर्षाकालमें वायुका संघर्ष होनेसे थोड़ाभी [illegible] आकाशमें नाना तरहकी आकृतिका दीखता है तैसे चित्तके [illegible]र्षसे अहंकार भी नाना [illegible]हकी सृष्टिको विस्तार करता है ॥ ३१० ॥

निगृह्य शत्रोरहमोऽवकाशः क्वचिन्न देयो विषयानुचिन्तया । स एव सञ्जीवनहेतुरस्य प्रक्षीणज-
म्बीरतरोरिवाम्बु ॥ ३११ ॥

जैसे जम्बीरका [illegible] जल संसर्ग होनेसे [illegible] जाता है तैसे अहंकाररूप शत्रुको [illegible] करनेपर भी विषयका अनुचिन्तनमें समय पाकर फिर वह [illegible]हंकार संजीवित होता है क्योंकि अहंकारके उत्पन्न होनेमें [illegible]चिन्तनही कारण है इसलिये अहंकारके नाश होने पर फिर [illegible]चिन्ता कभी न करना ॥ ३११ ॥

देहात्मना संस्थित एव कामी विलक्षणः कामयिता कथं स्यात् । अतोऽर्थसन्धानपरत्वमेव
भेदप्रसक्त्या भवबन्धहेतुः ॥ ३१२ ॥

देहमें आत्मबुद्धिसे वर्तमान जो कामी पुरुष वह विलक्षण कामयिता कैसे होगा इसलिये भेद बुद्धिसे विषयका अनुचिन्तनमें तत्पर होना भवबन्धमें कारण है ॥ ३१२ ॥

कार्यप्रवर्द्धनाद्बीजप्रवृद्धिः परिदृश्यते ।
कार्यनाशाद्बीजनाशस्तस्मात्कार्यं निरोधयेत् ३१३

कार्य्ये बढनेसे बीजकार्भी वृद्धि होती है और कार्य्य नाश होनेसे बीजकार्भी नाश होता है इस लिये कार्यका नाश करना चाहिये ॥ ३१३ ॥

वासनावृद्धितः कार्य्यं कार्य्यवृद्धया च वासना ।
वर्द्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्त्तते ॥ ३१४ ॥

वासनाके बढनेसे कार्य्य बढता है और कार्य्य बढनेसे वासना बढती है इस लिये पुरुषका संसार निवृत्त नहीं होता ॥ ३१४ ॥

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः ।
वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः ॥ ३१५ ॥

संसार बन्धसे विमुक्त होनेके लिये कार्य्य और वासना इन दोनोंको योगी नाश करे और वासनाकी वृद्धि तो विषयोंके चिन्तन करनेसे और बाह्यक्रिया करनेसे होतीहै क्योंकि विषयचिन्ता नष्ट होनेसे वासना नष्ट होतीहै वासना नाश होनेसे फिर संसार नहिं होता ॥ ३१५ ॥

ताभ्यां प्रवर्द्धमाना सा सूते संसारमात्मनः । त्रया
णां च क्षयोपायः सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ३१६ ॥

विषयकी चिन्ता और बाह्यक्रिया इन दोनोंसे बढी हुई वासना आत्मामें संसारको उत्पन्न करती है इस लिये विषयचिन्ता और बाह्यक्रिया और वासना इन तीनोंको क्षय होनेका उपाय सब कालमें और सब अवस्थामें करना चाहिये ॥ ३१६ ॥

सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनैः ।
सद्भाववासनादार्ढ्यात्तत्त्रयं लयमश्नुते ॥ ३१७ ॥

सब कालमें सब वस्तुओंमें सबसे सबको ब्रह्ममय देखनेसे और उस ब्रह्ममय वासनाके दृढ होनेसे विषयचिन्ता और बाह्यक्रिया और वासना ये तीनों लयको प्राप्त होते हैं ॥ ३१७ ॥

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः ।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥ ३१८ ॥

क्रियाका नाश होनेसे चिन्ताका नाश होता है चिन्ताके नाश होनेसे वासनाका क्षय होता है वासनाका क्षय होना यही मोक्ष है जिसके वासनाका क्षय हुआ उस मनुष्यको समझना कि यह जीवन्मुक्त है ॥ ३१८ ॥

ब्रह्मवासनास्फूर्त्तिविजृम्भणे सतीत्यसौ विलीनाप्य-
हमादिवासना । अतिप्रकृष्टाप्यरुणप्रभायां विलीयते
साधु यथा तमिस्रा ॥ ३१९ ॥

जैसे अत्यंत प्रकृष्ट अन्धकार युक्त रात्रि सूर्य्यकी प्रभाके उदय होनेही नष्ट होती है तैसे सत ब्रह्म वासनाकी स्फूर्त्ति बढने पर अहङ्कारकी यह वासना नष्ट हो जाती है ॥ ३१९ ॥

तमस्तमःकार्य्यमनर्थजालं न दृश्यते सत्युदिते
दिनेशे । तथाद्वयानन्दरसानुभूतौ नैवास्ति बन्धो
न च दुःखगन्धः ॥ ३२० ॥

जैसे सूर्य्यके उदय होनेसे तम और अनर्थका समूह तमका कार्य्य ये सब कहीं नहीं दीखते तैसे अद्वितीय आनन्दमय रसके अनुभव होनेसे न संसाररूप बन्ध रहता है न दुःखका गन्ध रहता है ॥ ३२० ॥

दृश्यं प्रतीतं प्रविलापयन्सन् सन्मात्रमानन्दघनं
विभावयन् । समाहितः सन्बाहिरन्तरं वा कालं
नयेथाः सति कर्मबन्धे ॥ ३२१ ॥

हे शिष्य ! यदि तुम कर्मबन्धमें फँसेहो तो दृश्य प्रतीयमान इस जगतको मिथ्या समझके लय करते हुए और सन्मात्र आनन्दघन आत्माको विचारते हुए बाह्य भीतरसे समाहित होकर काल व्यतीत करो ॥ ३२१ ॥

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्त्तव्यः कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः ॥ ३२२ ॥

हे विद्वन् ! ब्रह्मनिष्ठामें प्रमाद कभी न करना क्योंकि ब्रह्मपुत्र नारदादि ऋषीश्वरोंने प्रमादहीको मृत्यु कहा है ॥ ३२२ ॥

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः ।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥ ३२३ ॥

अपने स्वरूपसे प्रमाद करना अर्थात् अपना रूप भूलजाना इससे अन्य ज्ञानीके लिये दूसरा अनर्थ नहीं है । क्योंकि अपना रूपको भूलनेसे मोह होता है मोहसे अहंबुद्धि होती है अहंबुद्धि होनेसे संसारका बन्ध प्राप्त होता है बन्ध होनेसे क्लेश होता है ॥ ३२३ ॥

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः ।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम् ॥ ३२४ ॥

जैसे अपने तरफ साकांक्ष दृष्टि देताहुआ जार पुरुषको देखकर कुलटा स्त्री अपने कटाक्ष विक्षेप आदि गुणोंमें मोहित कर देती है तैसे विषयमें प्रवृत्त विद्वान्को भी देखकर विस्मृति बुद्धिमें दोष सम्पादन करि नाना प्रकारका विक्षेप करती है ॥ ३२४ ॥

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति । आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ॥ ३२५ ॥

जैसे जलमेंके शैवालको हटादेने पर फिर वह शैवाल क्षण मात्रभी अलग नहीं रहता शीघ्रही जलको आवरण कर देता है तैसे आत्मविचारसे पराङ्मुख विद्वानको भी माया शीघ्रही अपनी आवरण शक्तिसे आवृत कर देती है ॥ ३२५ ॥

लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः । प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः सोपानपंक्तौ पतितो यथा तथा ॥ ३२६ ॥

जैसे खेलमें हाथसे छूटाहुआ कंदुक सोपानपंक्तिपर नीचेको गिरता जाता है तैसे यदि ब्रह्मतत्त्वमें लगाहुआ चित्त थोड़ा कभी उस लक्ष्यसे बहिर्मुख हुआ तो नीचेहीको दौड़ता है ॥ ३२६ ॥

विषयेष्वाविशच्चेतः सङ्कल्पयाति तद्गुणान् ।
सम्यक्संकल्पनात्कामः कामात्पुंसः प्रवर्त्तनम् ३२७॥

जब चित्त, विषयोंमें प्रवेश करताहै तो विषयके गुणोंको संकल्प अर्थात् विचार किया करताहै । सदा संकल्प होनेसे उन विषयोंकी चाहना होतीहै चाहना होनेसे विषयोंमें पुरुषकी प्रवृत्ति होतीहै ॥ ३२७ ॥

अतः प्रमादान्न परोस्ति मृत्युर्विवेकिनो ब्रह्मविदः
समाधौ । समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक्समा-
हितात्मा भव सावधानः ॥ ३२८ ॥

श्रीस्वामीजी शिष्यको शिक्षा देते हैं कि हे शिष्य ! इसलिये विवेकी ब्रह्मज्ञानी पुरुषको समाधिकालमें प्रमाद होना इससे अधिक दूसरा कोई मृत्यु नहीं है क्योंकि जो पुरुष समाधिमें सदा स्थिर रहता है वह आत्मलाभरूप सिद्धिको प्राप्त होता है इसहेतु तुम भी सावधान होकर चित्त स्थिर करो ॥ ३२८ ॥

ततः स्वरूपविभ्रंशो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः ।
पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते ॥ ३२९ ॥

समाधिकालमें प्रमाद होनेपर आत्मस्वरूपसे अलग होना पडता है जो आत्मस्वरूपसे विभ्रष्ट हुआ उसका अधःपतन होता है अधः पतित मनुष्य नाशको प्राप्त हुये विना चाहै कि फिर उसका चित्त आत्मस्वरूपमें आरोहण करे ऐसा कभी नहीं होता ॥ ३२९ ॥

संकल्पं वर्जयेत्तस्मात्सर्वानर्थस्य कारणम् ।
जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे च स केवलः ।
यत्किञ्चित्पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुःश्रुतिः ॥ ३३० ॥

इसलिये सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण संकल्पको सर्वथा त्याग करना योग्य है जिसने संकल्पका त्याग किया वह अंतमें कैवल्य

सुख पाता है शरीर पात होनेपर भी केवल ब्रह्म होताहै जो मनुष्य यत्किञ्चित् भेदबुद्धि रखता है वह भयको प्राप्त होता है ऐसा यजुर्वेदकी श्रुतियाँ कहती हैं ॥ ३३० ॥

यदा यदा वापि विपश्चिदेष ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम् । पश्यत्यथामुष्य भयं तदैव यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ॥ ३३१ ॥

जो विद्वान् अनन्त परब्रह्ममें किंचित् मात्र भी भेदको देखताहै उसी भेदबुद्धिसे उस मनुष्यको भय प्राप्त होता है क्योंकि प्रमादहीसे आत्मामें भेद देख पडता है इस लिये प्रमादसे सदा सावधान होना चाहिये ॥ ३३१ ॥

श्रुतिस्मृतिन्यायशतैर्निषिद्धे दृश्येऽत्र यः स्वात्ममतिं करोति । उपैति दुःखोपरि दुःखजातं निषिद्धकर्त्ता स मलिम्लुचो यथा ॥ ३३२ ॥

श्रुति और स्मृति और सैकडों युक्तियोंसे निषिद्ध जो यह दृश्य संसार है इस संसारमें जो आत्म बुद्धि करताहै वह निषिद्धकर्मकर्त्ता म्लेच्छोंके समान परम दुःखको प्राप्त होता है ॥ ३३२ ॥

सत्याभिसंधानरतो विमुक्तो महत्त्वमात्मीयमुपैति नित्यम् । मिथ्याभिसंधानरतस्तु नश्येद्दृष्टं यदेतद्यदचौरचोरयोः ॥ ३३३ ॥

अद्वितीय ब्रह्मरूप सत्यवस्तुके विचारनेमें जो मनुष्य अनुरक्त रहता है वह जीवन्मुक्त होकर महत्त्व आत्मीय पदको सदा प्राप्त होता है जो मिथ्या वस्तु शरीर आदिका संग्रहमें अनुरक्तहै उस मनुष्यको यही दृष्टसंसारवस्तु नाशको प्राप्त कर देताहै जैसे अच्छे काम करनेवाला साधुजन उत्तम पदको पाताहै नीचकर्म करनेवाला चोर दण्ड पाकर परम दुःख पाताहै ॥ ३३३ ॥

यतिरसदनुसन्धिं बन्धहेतुं विहाय
स्वयमयमहमस्मीत्यात्मदृष्ट्यैव तिष्ठेत् ।
सुखयति ननु निष्ठा ब्रह्मणि स्वानुभूत्या
हरति परमविद्याकार्यदुःखं प्रतीतम् ॥ ३३४ ॥

विरक्त होकर यति अनित्य वस्तुओंके अनुसंधानका त्यागकर साक्षात् ब्रह्मस्वरूप यह मैं ही हूं ऐसा अपनेमें आत्मदृष्टिसे स्थिर रहै पश्चात् अपने अनुभवमें ब्रह्ममें जो निष्ठा होती है वही ब्रह्म-निष्ठा प्रतीयमान संसारी दुःखको नाशकर परमसुखको देती है ॥ ३३४ ॥

बाह्यानुसंधिः परिवर्द्धयेत्फलं दुर्वासनामेव ततस्ततोऽधिकाम् । ज्ञात्वा विवेकैः परिहृत्य बाह्यं स्वात्मानुसन्धिं विदधीत नित्यम् ॥ ३३५ ॥

बाह्यवस्तुओंका जो अनुसन्धान है अर्थात् चिन्ता है वही चिन्ता अधिकसे अधिक दुर्वासनारूप फलको बढाती है । यदि विवेकसे ज्ञान उत्पादनकर बाह्यवस्तुकी चिन्ताका त्याग किया जाय तो वही विवेक आत्मवस्तुके अनुभवको सदा विधान करताहै इसलिये बाह्यवस्तुकी चिंता छोडकर आत्मचिन्ता करना उचित है ३३५॥

बाह्ये निषिद्धे मनसः प्रसन्नता मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम् । तस्मिन्सुदृष्टे भवबन्धनाशो बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः ॥ ३३६ ॥

बाह्यवस्तुओंका निषेध होनेसे मनकी प्रसन्नता होती है मन प्रसन्न होनेसे परमात्माका साक्षात्कार होता है परमात्माका दर्शन होनेसे संसार रूप बन्धका नाश होताहै इसलिये बाह्यवस्तुओंका जो निरोध है सोई मुक्तिका स्थान है ॥ ३३६ ॥

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी । जानन् हि कुर्य्यादसतोऽवलम्बं स्वपातहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः ॥ ३३७ ॥

परमात्मवस्तुका द्रष्टा और श्रुतियोंका प्रमाण जाननेवाला सत् असत वस्तुका विवेकी कोन ऐसा मर्मज्ञ विद्वान् होगा जो आत्मवस्तुको जानता हुआ फिर पतनरूप पात होनेका कारण असत वस्तुओंका ग्रहण करेगा जैसे अज्ञान बालक अपनी अज्ञानतासे ऐसी कोई वस्तुका अवलम्बन करता है जिसके ग्रहण करनेसे वह बालक जमीनमें गिरता है ॥ ३३७ ॥

देहादिसंसक्तिमतो न मुक्तिर्मुक्तस्य देहाद्यभिमत्यभावः । सुप्तस्य नो जागरणं न जाग्रतः स्वप्नस्तयोर्भिन्नगुणाश्रयत्वात् ॥ ३३८ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें प्राप्त मनुष्योंमें जाग्रत अवस्थाका अभाव होताहै और जाग्रत अवस्थाको प्राप्त मनुष्योंमें स्वप्नावस्थाका अभाव रहताहै क्योंकि ये दोनों अवस्था भिन्न भिन्न गुणको आश्रयण करती हैं तैसे जो मनुष्य देहआदि अनित्यवस्तुओंमें आसक्त रहतेहैं वह मोक्षके भागी नहीं होते और जो मुक्त होगये उनको देहआदिका फिर कभी अभिमान नहीं होता ॥ ३३८ ॥

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजङ्गमेषु ज्ञात्वात्मनाधारतया विलोक्य । त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः पूर्णात्मना यः स्थित एव मुक्तः ॥ ३३९ ॥

वृक्षआदि जितने स्थावर हैं और मनुष्यआदि जितने जंगम हैं उन सबमें बाहर और भीतर सबका आधारभूत आत्मरूपसे अपनेको देखकर संपूर्ण उपाधिसे छूटकर अखण्डरूप परिपूर्ण होकर जो मनुष्य स्थित है वही मनुष्य मुक्त कहा जाताहै ॥ ३३९ ॥

सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित् । दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ॥ ३४० ॥

सब वस्तुओंका बन्धनसे सदा विमुक्त होनेके कारण सर्वात्मभावको प्राप्त होनेसे अधिक दूसरा नहीं है अर्थात् (स्थावर जंगम जितने पदार्थ हैं उन सब पदार्थोंमें आत्मबुद्धि होनेसे सम्पूर्ण बन्धनसे मनुष्य मुक्त होजाता है ।) जो देहआदि जगत् है उसमें मुमुक्षुपुरुषकी त्यागबुद्धि होना यही सर्वात्मभावहोनेका अर्थात् सब वस्तुओंमें आत्मबुद्धि होनेका कारण है ॥ ३४० ॥

दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतो बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनसस्तत्तत्क्रियां कुर्वतः । संन्यस्ताखिलधर्मकर्मविषयैर्नित्यात्मनिष्ठापरै-स्तत्त्वज्ञैः करणीयमात्मनि सदानन्देच्छुभिः सर्वतः ॥ ३४१ ॥

जो मनुष्य देहमें आत्मबुद्धि स्थिर किये है और बाह्य विषयोंके स्मरणमें सदा मनको लगाकर बाह्यवस्तुओंकी क्रियामें फँसा है उस पुरुषके देहआदिमें त्यागबुद्धि कैसे होगी । इसलिये सम्पूर्ण धर्मकर्म विषयोंको त्याग कर और नित्य आत्मामें भक्तिकर सदा आनन्दकी इच्छा करनेवाला तत्त्वज्ञ पुरुषोंको यत्नसे देहआदिके आग्रहको त्याग करना उचित है ॥ ३४१ ॥

सर्वात्मसिद्धये भिक्षोः कृतश्रवणकर्मणः ।
समाधिं विदधात्येषा शान्तो दान्त इति श्रुतिः ३४२

श्रवण मनन निदिध्यासन आदि कर्मके करनेवाला सन्यासीको सर्वात्मसिद्धिके लिये 'शान्तो दान्त' यह श्रुति समाधिका

विधान करती है । अर्थात् मुमुक्षु भिक्षुको अपनी अभीष्टसिद्धिके निमित्त चित्तका निरोध करना चाहिये ॥ ३४२ ॥

आरूढशक्तेरहमो विनाशः कर्तुं न शक्यः सहसापि पण्डितैः । ये निर्विकल्पाख्यसमाधिनिश्चलास्तानन्तरानन्तभवा हि वासनाः ॥ ३४३ ॥

अहंकारकी पूर्वोक्तशक्ति जबतक बढी रहती है तबतक अहंकारका हठात्कारसे नाश करनेमें कोई पण्डित समर्थ नहीं हो सकते जो विद्वान् निर्विकल्पक समाधिसे चित्तको स्थिर करते हैं उन विद्वानोंको किसीतरहकी वासना आत्मलाभ होनेमें प्रतिबन्धक नहीं होती ॥ ३४३ ॥

अहंबुद्ध्यैव मोहिन्या योजयित्वा वृतेर्बलात् । विक्षेपशक्तिः पुरुषं विक्षेपयति तद्गुणैः ॥ ३४४ ॥

मोह देनेवाली जो अहंबुद्धि है उसके साथ आवरण शक्तिके हठात्कारसे संयोगकराय विक्षेपशक्ति पुरुषके विक्षेपको प्राप्त करदेती है ॥ ३४४ ॥

विक्षेपशक्तिविजयो विषमो विधातुं निःशेषमावरणशक्तिनिवृत्त्यभावे । दृग्दृश्ययोः स्फुटपयोजलवद्विभागे नश्येत्तदावरणमात्मनि च स्वभावात् ॥ ३४५ ॥

निःशेष आवरण शक्तिको निवृत्त कियेविना विक्षेपशक्तिका विजय करना बहुत कठिन है जैसे द्रष्टा और दृश्य इन दोनोंको स्पष्ट दुग्धसे जलका विभागके नाई विभाग किया जाय तो स्वभावहीसे आवरणशक्ति आत्मामें लीन होजायगी अभिप्राय यह कि, जैसे दूधमें जल मिलाने पर दुग्धमे अलग जल नहीं दीखता तैसे द्रष्टा जो ईश्वर है और दृश्य जो जगत् है इन दोनोंका विभाग अज्ञानतासे नहीं मालूम होता यदि विचारनेसे द्रष्टादृश्यका विभाग किया जाय तो आवरणशक्ति आपही आत्मामें नष्ट होजायगी ॥ ३४५ ॥

निःसंशयेन भवति प्रतिबन्धशून्यो विक्षेपणं नहि तदा यदि चेन्मृषार्थे । सम्यग्विवेकः स्फुटबोधजन्यो विभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम् । छिनत्ति मायाकृतमोहबन्धं यस्माद्विमुक्तस्य पुनर्न संसृतिः ३४६ ॥

यदि मिथ्यावस्तुओंसे विक्षेपशक्तिका नाशहोय तो स्पष्ट बोधजन्य प्रतिबन्धकसे रहित निश्चय समीचीन विवेक उत्पन्न होगा। विवेकयुक्त जो पुरुष द्रष्टा और दृश्यपदार्थोंके विभागकर मायाकृत मोहजालका नाश करता है जिस मोहजालसे मुक्त होनेपर फिर संसारकी संभावना नहीं होती ॥ ३४६ ॥

परावरैकत्वविवेकवह्निर्दहत्यविद्यागहनं ह्यशेषम् । किं स्यात्पुनः संसरणस्य बीजमद्वैतभावं समुपेयुषोऽस्य ॥ ३४७ ॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे जीव ब्रह्मका एकत्व विचाररूप जो अग्निहै सो अविद्यारूप महावनको निर्मूल भस्म करदेताहै जब निर्मूल अविद्याका नाशहुआ तो अद्वैत भावमें प्राप्त मनुष्यको संसार प्राप्त होनेमें कुछ भी कारण नहीं रहताहै ॥ ३४ ॥

आवरणस्य निवृत्तिर्भवति च सम्यक् पदार्थदर्शनतः । मिथ्याज्ञानविनाशस्तद्विक्षेपजनितदुःखनिवृत्तिः ॥ ३४८ ॥

सम्यक् पदार्थ जो आत्मवस्तुहै उसके दर्शन अर्थात् विचार होनेसे आवरण शक्तिकी निवृत्ति होती है आवरणशक्तिकी निवृत्ति होनेसे मिथ्याज्ञानका नाश होताहै मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेपर विक्षेपशक्तिसे जायमान सम्पूर्ण दुःख निवृत्तिको प्राप्त होते है ॥ ३४८ ॥

एतत्त्रितयं दृष्टं सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात् । तस्माद्वस्तुतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ॥ ३४९ ॥

जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होनेपर अनेक तरहका भय और दुःख होताहै पश्चात दीपसे अच्छेतरहसे विचारनेसे रज्जुका यथार्थ ज्ञान होनेसे तो यावत् भय और दुःख नष्ट होजाताहै तैसे आवरणशक्तिसे जो ईश्वरमें जगतका मिथ्याज्ञान हुआ है उस मिथ्याज्ञानसे जो दुःख प्राप्त है सो सब दुःख यथार्थ विचारसे जगत्में जो आत्मज्ञान होगा तो उसी आत्मज्ञानसे नष्ट होगा इस लिये संसार बन्धसे मोक्ष होनेके निमित्त आत्मवस्तुका ज्ञान सम्पादन करना उचितहै ॥ ३४९ ॥

अयोऽग्नियोगादिव सत्समन्वयान्मात्रादिरूपेण विजृम्भते धीः । तत्कार्यमेतत्त्रितयं यतो मृषा दृष्टं भ्रमस्वप्नमनोरथेषु ॥ ३५० ॥

जैसे अग्निका संयोग होनेसे चैतन्य लोहेका विलक्षणरूप दीखताहै तैसे सद्ब्रह्ममें अन्वित होनेपर मात्रारूपसे बुद्धि भी बढती है चैतन्यके योग विना केवल बुद्धिमें प्रकाशकता नहीं रहती, क्योंकि भ्रम दशामें और स्वप्नावस्थामें मनोरथमें बुद्धिका कार्य्य सब मिथ्याही देखा गया है ॥ ३५० ॥

ततो विकाराः प्रकृतेरहंमुखा देहावसाना विषयाश्च सर्वे । क्षणेऽन्यथाभावितया ह्यमीषामसत्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा ॥ ३५१ ॥

अहंकार आदि देह पर्यंत जितना प्रकृतिका विकार है व जितना विषय है सो सब अच्छी रीतिसे विचार करनेपर मिथ्या मालूम होता है और आत्मा तो सदाही एक रस रहता है ३५१ ॥

नित्याद्वयाखण्डचिदेकरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षणः । अहंपदप्रत्ययलक्षितार्थः प्रत्यक् सदानन्दघनः परात्मा ॥ ३५२ ॥

नित्य अद्वितीय भेदसे रहित चैतन्य एकरूप बुद्ध्यादिका साक्षी और सत् असत्से विलक्षण अहं पदकी जो प्रतीति है इसका लक्षित अर्थ व्यापक सत्स्वरूप आनन्दघन ऐसा परमात्मा है ३५१॥

इत्थं विपश्चित्सदसद्विभज्य निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्ट्या। ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं तेभ्यो विमुक्तः स्वयमेव शाम्यति ॥ ३५२ ॥

इस रीतिसे विद्वान् सत असत्के विभाग कर अपनी बोधदृष्टिसे आत्मतत्त्वको निश्चय कर अखण्ड बोधरूप आत्मा अपनेको जानकर असत् वस्तुओंसे विमुक्त होकर आपहीसे शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३५२ ॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा।
समाधिनाविकल्पेन यदाद्वैतात्मदर्शनम् ॥ ३५४ ॥

अज्ञानरूप हृदयकी ग्रंथिका नाश तभी होताहै जब निर्विकल्पक समाधियुक्त होकर अद्वैत आत्मस्वरूपका दर्शन किया जाय अन्यथा अज्ञान नाश होना कठिन है ॥ ३५४ ॥

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे। प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो विलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या ॥ ३५५ ॥

विशेषसे रहित अद्वितीय परमात्मामें अपनी बुद्धिके दोषसे यह तुम हो यह मैं हूं यह मेरा है ऐसी कल्पना होती है जब निर्विकल्पक समाधिमें आत्मवस्तुकी धारणा होती है तो उसी आत्मधारणासे पुरुषका सम्पूर्ण विकल्प नष्ट होकर केवल आनन्द रह जाता है ही दीखता है इसलिये चित्त निरोध कर आत्मविचार करना चाहिये ३५५

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम्।

तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ॥ ३५६ ॥

जो यतिपुरुष बाह्य इन्द्रियोंको विषयसे निवृत्त कर परम उपशामको प्राप्त होकर क्षमायुक्त चित्तवृत्तिको निरोध करता हुआ अपनेको सर्वात्मस्वरूप मानता है वही पुरुष आत्मज्ञानमें अविद्यारूप अन्धकारमें उत्पन्न विकल्प वस्तुको नाश करि भेदबुद्धि और क्रियासे रहित साक्षात ब्रह्मस्वरूपसे सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ३५६ ॥

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं श्रोत्रादिचेतः
स्वमहं चिदात्मनि । त एव मुक्ता भवपाशबन्धै-
र्नान्ये तु पारोक्ष्यकथाभिधायिनः ॥ ३५७ ॥

जो मनुष्य चित्तवृत्तिको निरोध करि बाह्य वस्तुओंको और श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको चित्तको चैतन्य आत्मामें लयकर देते हैं वही मनुष्य संसाररूप पाशसे मुक्त होते है दूसरे केवल परोक्ष ब्रह्मकी कथाके अभिधान करनेसे कभी मुक्त नहीं होते ॥ ३५७ ॥

उपाधिभेदात्स्वयमेव भिद्यते चोपाध्यपोहे
स्वयमेव केवलः । तस्मादुपाधेर्विलयाय विद्वान्
वसेत्सदा कल्पसमाधिनिष्ठया ॥ ३५८ ॥

उपाधिके भेद होनेसे साक्षात् आत्मा भिन्न मालूम होताहै यदि उपाधिका नाश कियाजाय तो केवल एक आत्माही दीखताहै इसलिये विद्वान उपाधिके लय करनेके निमित्त प्रलयपर्य्यन्त समाधि लगाकर सदा वास करे ॥ ३५८ ॥

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥ ३५९ ॥

चित्तको इकट्ठा कर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें आसक्त होनेसे अर्थात् चित्त लगानेसे ब्रह्मरूपताको मनुष्य प्राप्त होता है । जैसे भ्रमर

दीवालोंमें एक मिट्टीका घर बनाकर एक किसी कीडाको बन्द करदेताहै और सूक्ष्म छिद्रसे अपना भनभनाहटशब्द सुनाय अपने डंकोंसे उस कीडाको पीडा दियाकरता है फिर उडके अपने अलग चलाजाता है तो भी वह कीडा भयसे भ्रमरका रूप और शब्दको अनुक्षण ध्यान किया करता है ऐसे निरंतर ध्यान करनेसे कुछ दिनके बाद वह कीडा भ्रमर स्वरूप होजाता है तैसे निरन्तर ईश्वरका ध्यान करनेसे मनुष्यभी ईश्वररूप ही होजाता है ॥ ३५९ ॥

क्रियान्तराऽऽसक्तिमपास्य कीटको ध्यायन्नलित्वं ह्यलिभावमृच्छति । तथैव योगी परमात्मतत्त्वं ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ॥ ३६० ॥

जैसे दूसरी क्रियाशक्तिको छोडकर केवल भ्रमरका ध्यान करनेसे कीडा भ्रमरके रूपको प्राप्त होजाता है तैसे एकत्र चित्त होके केवल परमात्मतत्त्वको ध्यान करनेसे योगी ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होताहै ॥ ३६० ॥

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं न स्थूलदृष्ट्या प्रति-पत्तुमर्हति । समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या ज्ञात-व्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥ ३६१ ॥

परमात्मतत्त्व अतिसूक्ष्म है स्थूलदृष्टिसे कोई निश्चय नहीं करसकता इस लिये चित्तवृत्तिको निरोध करि अत्यन्त सूक्ष्मवृत्ति और अति शुद्धबुद्धिसे आर्यलोगोंको आत्मतत्त्वका ज्ञान करनाचाहिये ॥ ३६१ ॥

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्म-गुणं समृच्छति । तथात्मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन संत्यज्य समेति तत्त्वम् ॥ ३६२ ॥

जैसे सुवर्णमें दूसरा कोई धातुके मिलजानेसे सुवर्णका यथार्थगुण नष्ट होजाता है यदि अग्निमें अच्छे तरहसे शोधाजाय तो मलको

त्याग करि फिर अपनी स्वाभाविक गुणको प्राप्त होता है तैसे पुरुषके मनमें जो सत्त्व रज तमका मल है उसको ईश्वरके ध्यानसे त्यागकरि शान्त होकर यथार्थ अपने स्वरूपको पुरुष प्राप्त होता है ॥ ३६२॥

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं पक्वं मनो ब्रह्मणि
लीयते यदा । तदा समाधिः सविकल्पवर्जितः
स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः ॥ ३६३ ॥

पूर्वोक्तप्रकारसे जो रातदिनका अभ्यास है उसमें मन परिपक्व होकर जब परब्रह्ममें लीन होजाता है तब अद्वितीय ब्रह्मानन्दरसके अनुभव करनेवाला निर्विकल्प समाधि स्वतः सिद्ध होता है ॥ ३६३॥

समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिल-
कर्मनाशः । अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा
स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥ ३६४ ॥

इस निर्विकल्प समाधिके सिद्ध होनेसे सम्पूर्ण वासनाकी ग्रन्थि नष्ट होजाती है वासनाका नाश होनेसे सब कर्मोंका नाश होता है कर्मका नाश होनेपर विना परिश्रम अन्तर और बाह्य सर्वत्र सब कालमें ब्रह्मस्वरूपहीका प्रकाश होता है ॥ ३६४ ॥

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥ ३६५॥

सब कर्मोंको त्याग करि गुरुमुखसे आत्मवस्तुका श्रवण करना उत्तम है श्रवणसेभी शतगुण अधिक मनन अर्थात् गुरुमुखसे सुनकर अपने मनमें विचार करना उत्तम है । मननसे भी लक्षगुण निदिध्यासन अर्थात् आत्मवस्तुको विचारकरि सदा चित्तमें स्थिर करना उत्तम है निदिध्यासनसे भी अनन्तगुण निर्विकल्पका अर्थात् चित्तमें आत्मवस्तुको स्थिर होनेपर फिर चित्तको दूसरे तरफ न लेजाना केवल परब्रह्मस्वरूपही सदा देखना यह सबसे उत्तम है ॥ ३६५ ॥

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्। नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥ ३६६ ॥

निर्विकल्पसमाधि सिद्ध होनेसे निश्चय स्पष्ट ब्रह्मतत्त्वका बोध होता है। जबतक मनकी गतिको चंचल होनेसे बाह्य वस्तुओंकी प्रतीतिसे मिला हुआ आत्मतत्त्व रहेगा तबतक ब्रह्मज्ञान कभी नहीं होगा ॥ ३६६ ॥

अतः समाधत्स्व यतेन्द्रियः सन्निरंतरं शान्तमनाः प्रतीचि। विध्वंसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया कृतं सदेकत्वविलोकनेन ॥ ३६७ ॥

पूर्वोक्त शिक्षा कहकर श्रीशंकराचार्यस्वामी अपने शिष्यसे बोले कि, हे शिष्य! इस लिये तुम इन्द्रियोंको अपने वशकारि सदा शान्त मन होकर सर्वव्यापक परब्रह्ममें चित्तको स्थिर रक्खो और सच्चिदानन्दस्वरूप एक परब्रह्मके देखनेसे अनादि अज्ञानसे उत्पन्न हुआ महा अन्धकारका नाश करो ॥ ३६७ ॥

योगस्य प्रथमद्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ३६८॥

वचनका निरोध करना (अर्थात् मौन धारण करना) द्रव्यका त्याग करना तथा निराश होना और चेष्टाका त्याग करना केवल एक ब्रह्ममें सदा चित्तको स्थिर रखना ये सब योगका प्रथम द्वार है अर्थात् पहिली सामग्री है ॥ ३६८ ॥

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना। तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिनस्तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुने ॥ ३६९ ॥

इन्द्रियोंको निरोध करनेमें एक जगह सदा स्थिर होना कारण है और इन्द्रियोंको निरोध करलेना यह चित्तको स्थिर होनेमें कारण है चित्तका स्थिर होनेसे अहंकारकी वासना नष्ट होती है अहंकारके नाश होनेसे योगियोंको ब्रह्मानन्दरसका निश्चल अनुभव होताहै इस लिये सदा चित्तका निरोध करना यही योगियोंका परम साधन है ॥ ३६९ ॥

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि । तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शांतिं परमां भजस्व ॥ ३७० ॥

वचनको अपने शरीरमें निरामन करो (अर्थात निरोध करो) इस स्थूल आत्माको बुद्धिमें लय करो बुद्धिको भी बुद्धिका साक्षी जीवात्मामें लय करो जीवात्माकोभी निर्विकल्पक परिपूर्ण आत्मामें लय करके परम शान्तिका सेवन करो ॥ ३७० ॥

देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः ।
यैर्यैर्वृत्तेः समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥ ३७१ ॥

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जितनी उपाधि हैं इन उपाधियोंमें जिस जिस उपाधिके संग योगियोंकी चित्तवृत्ति संयुक्त होती है वही भावना योगियोंको प्राप्त होती है ॥ ३७१ ॥

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक् सर्वोपरमणं सुखम् ।
संदृश्यते सदानंदरसानुभवविप्लवः ॥ ३७२ ॥

देह, प्राण, आदि उपाधिसे चित्तवृत्तिकी निवृत्ति होनेसे सब विषयोंसे सुखपूर्वक वैराग्य होता है वैराग्य होनेपर सच्चिदानन्द रसका अनुभव होता है ॥ ३७२ ॥

अंतस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते ।
त्यजत्यंतर्बहिः संगं विरक्तस्तु मुमुक्षया ॥ ३७३ ॥

विरक्तही पुरुषको अन्तस्त्याग और बाह्यत्याग युक्त होता है

अतएव विरक्त पुरुष मोक्षकी इच्छासे अन्तरीय संग और बाह्य संग दोनोंको मुखसे त्याग करते हैं ॥ ३७३ ॥

बहिस्तु विषयैः संगं तथान्तरहमादिभिः।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः ॥ ३७४॥

विषयोंके साथ जो इन्द्रियोंका बाह्यसंग है और अहंकार आदिके साथ जो आन्तरीय संग है इन दोनों संगोंको ब्रह्मनिष्ठ जो विरक्त है वही त्याग करनेमें समर्थ हो सक्ता है ॥ ३७४ ॥

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम्। विमुक्तिसौधाग्रलताधिरोहणं ताभ्यां विना नान्यतरेण सिद्ध्यति ॥ ३७५ ॥

श्रीशंकराचार्यजी अपने शिष्यसे कहते हैं कि हे शिष्य! वैराग्य और ज्ञान, इन दोनोंको पक्षीके पक्ष सदृश पुरुषका पक्ष तुम जानो जिस पुरुषके वैराग्य व बोध ये दोनों पक्ष विद्यमान हैं वही पुरुष मोक्षरूप कोठाकी ऊर्ध्वभागकी जो लता है उस लता पर जा सकताहै एक पक्षके रहनेसे अर्थात् केवल वैराग्य अथवा केवल बोध होनेसे मुक्तिरूपलताको नहीं पासक्ता ॥ ३७५ ॥

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः। प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥ ३७६ ॥

अत्यन्त वैराग्ययुक्त पुरुषका निर्विकल्पक समाधि स्थिर होताहै जिस पुरुषका समाधि स्थिर हुआ उसी पुरुषको दृढतर बोध होता है जिसको चित्तमें परम बोध उत्पन्न हुआ वही पुरुष संसारबन्धसे मुक्त होताहै जो मुक्त हुए वही सदा सुखका अनुभव करते हैं ॥ ३७६ ॥

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्यसाम्राज्य-

धुक । एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ३७७

जिस पुरुषने चित्तको अपने वश करलिया उस पुरुषके सुखका जनक वैराग्यसे अधिक दूसरा कुछ नहीं है। यदि वह वैराग्य शुद्ध आत्मबोध संयुक्त होय तो स्वर्गीय राज्यका साम्राज्य सुखको देताहै क्योंकि बोधयुक्त वैराग्य नित्य मुक्तिरूप युवतिका द्वार है इस लिये सब विषयोंकी इच्छा त्याग कर अपने कल्याणनिमित्त तुम वैराग्ययुक्त होकर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें बुद्धिको स्थिर करो ॥ ३७७॥

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः
कृतिस्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चा
तिदूरात्क्रियाः । देहादावसति त्यजात्मधिषणां
प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि त्वं द्रष्टास्यमनोऽसि
निर्द्वयपरं ब्रह्मासि यद्वस्तुतः ॥ ३७८ ॥

विषसमान जो विषय हैं उन विषयोंमें जो आशा लगीहै इसे त्याग करो क्योंकि यही विषयोंकी आशा मृत्यु होनेका उपाय है। और जाति कुल ब्रह्मचर्य्य आदि आश्रम इनका जो अभिमान है अर्थात् मैं ब्राह्मणजाति हूं और मेरा प्रतिष्ठित कुल और मैं ब्रह्मचर्य्य आदिआश्रममें वर्त्तमान हूं ऐसा जो अभिमान होरहा है इसको त्याग करो यज्ञ आदि काम्यक्रियाको भी त्याग करो और अद्वैत परमात्मामें बुद्धि स्थिर रक्खो क्योंकि इन सब अनित्य वस्तुओंका तुम द्रष्टा हो वस्तुतः अद्वितीय परब्रह्म तुम्हीं हो ॥ ३७८ ॥

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्ये-
न्द्रियं स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य
देहस्थितिम् । ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया

चाखण्डवृत्त्यानिशं ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि
मुदा शून्यैः किमन्यैर्भृशम् ॥ ३७९ ॥

लक्ष्य जो परब्रह्म है अर्थात् जिसका साक्षात्कार चाहते हो उस परब्रह्ममें मनको दृढ स्थापन करो और श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंको अपने स्थानमें स्थिर कर निश्चलशरीर होकर देहकी रक्षाकी उपेक्षा करो जीव और ब्रह्मकी एकता जानकर ब्रह्माकार अखण्ड वृत्तिसे निरन्तर आत्मतत्त्वमें मग्न होकर ब्रह्मानन्दरसको प्रीतिपूर्वक आस्वादन कियाकरो, और जितने शून्य पदार्थ है उनकी इच्छा त्याग करो ॥ ३७९ ॥

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिंतयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥ ३८० ॥

आत्मासे भिन्न बाह्यविषयोंका चिन्तन पापजनक है और दुःखका कारण है इसलिये विषयचिन्ताका त्याग करो और मोक्षका कारण आनन्दस्वरूप आत्माको सदा चिन्तन करो ॥ ३८० ॥

एष स्वयंज्योतिरशेषसाक्षी विज्ञानकोशे
विलसत्यजस्रम् । लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षण
मखण्डवृत्त्यात्मतयानुभावय ॥ ३८१ ॥

ये जो स्वयंप्रकाशस्वरूप सकल पदार्थके साक्षी विज्ञानमय कोशमें निरन्तर विद्यमान और अनित्य वस्तुओंसे विलक्षण व्यापक ईश्वर हैं इन्हींको अखण्ड अन्तःकरणकी वृत्तिसे आत्मा जानकर चिन्तन कियाकरो ॥ ३८१ ॥

एतमच्छिन्नया वृत्त्या प्रत्ययान्तरशून्यया ।
उल्लेखयन्विजानीयात्स्वस्वरूपतया स्फुटम् ॥ ३८२ ॥

बाह्य वस्तुओंकी प्रतीतिसे शून्य अखण्ड अन्तःकरणकी वृत्तिसे

निश्चय करताहुआ मुमुक्षुपुरुषको आत्मस्वरूपसे प्रकाशरूप परब्रह्मको ध्यान करना योग्य है ॥ ३८२ ॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेत्स्फुटघटादिवत् ॥ ३८३ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे इस आत्मामें आत्मत्वको दृढ करताहुआ और अहंकार आदि अनित्य वस्तुओंमें आत्मबुद्धिको त्याग करताहुआ योगी पुरुषको जैसे फूटघटमें उपेक्षाबुद्धि होतीहै तैसे देह आदि अनित्य वस्तुओंसे उदासीन होकर सदा स्थिर रहना ॥ ३८३ ॥

विशुद्धमन्तःकरणं स्वरूपे निवेश्य साक्षिण्यवबोधमात्रे ॥ शनैः शनैर्निश्चलतामुपानयन्पूर्णं स्वमेवानुविलोकयेत्ततः ॥ ३८४ ॥

सर्वसाक्षी अवबोधमात्र जो आत्मस्वरूप है उसमें विशुद्ध अन्तःकरणका निवेशकरि क्रमसे निश्चलताको प्राप्त होनेके बाद मोक्षार्थी पुरुष पूर्ण ब्रह्म अपनेको समझे ॥ ३८४ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादिभिः स्वाज्ञानक्लृप्तैरखिलैरुपाधिभिः । विमुक्तमात्मानमखण्डरूपं पूर्णं महाकाशमिवावलोकयेत् ॥ ३८५ ॥

जैसे घटरूप उपाधि रहनेसे घटके भीतरभी एक आकाश प्रतीत होताहै घट फूटने पर एकही महाआकाश रहजाताहै—तैसे अपने अज्ञानसे कल्पित जो देह इन्द्रिय, प्राण, मन, अहंकार आदि सम्पूर्ण उपाधि हैं इन उपाधियोंसे मुक्त अखण्डरूप परिपूर्ण आत्माको भी जानना ॥ ३८५ ॥

घटकलशकुसूलसूचिमुख्यैर्गगनमुपाधिशतैर्विमुक्तमेकम् । भवति न विविधं तथैव शुद्धं परमहमादिविमुक्तमेकमेव ॥ ३८६ ॥

जैसे घट और कलश कुमूल अर्थात् बड़ा कोई मिट्टीका पात्र आदि सैकडों उपाधिके भेद होनेसे आकाशभी भिन्न भिन्न दीखताहै इन सब उपाधियोंके नाश होनेसे जैसा एकही महाआकाश रहजाता है तैसे अहंकार आदि नानातरहकी उपाधि होनेसे आत्माभी अनेक माल्म होतेहैं परंतु उपाधिके नाश होनेपर एकही शुद्ध परब्रह्म रहते हैं ॥ ३८६ ॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ३८७

जीव ब्रह्मआदि स्तम्बपर्य्यन्त जितनी उपाधियेंहैं सो सब मिथ्यामात्र हैं इसलिये एकरूपसे सदा स्थित परिपूर्णरूप आत्मा अपनेको देखना ॥ ३८७ ॥

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम् । भ्रान्तेर्नाशे भाति दृष्टाहितत्वं रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥ ३८८ ॥

जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होताहै वह सो रज्जुस्वरूपही है क्योंकि दीपद्वारा भ्रम नष्ट होनेसे यथार्थ रज्जुस्वरूपही दीखती है तैसे जिस आत्मामें भ्रान्तिसे संसारकी कल्पना होतीहै वह संसारभी आत्मस्वरूपही है क्योंकि विचार करनेसे भ्रम नष्ट होनेपर विश्वभी आत्मस्वरूपही दीखताहै ॥ ३८८ ॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥३९८॥

ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्मा विष्णु इन्द्र शिव और सब विश्व अपनाही रूप दीखताहै आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है ॥ ३९९ ॥

अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयं च स्वयं पुर-

स्तात्स्वयमेव पश्चात् । स्वयं ह्यवाच्यां स्वय-
मप्युदीच्यां तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥ ३९० ॥

अन्तःकरणमें स्वयं आत्मा है और बाह्यभी आत्मा आगे आत्मा और पश्चात्भी आत्मा दाहिने आत्मा बायें आत्मा ऊपर आत्मा नीचेभी आत्मा इसी रीतिसे ब्रह्मज्ञानीको सर्वत्र सदा काल आत्मा ही दीखता है आत्मासे भिन्न दूसरी कुछ वस्तु कुछ नहीं है ३९० ॥

तरंगफेनभ्रमबुद्बुदादि सर्वं स्वरूपेण जलं यथा
तथा । चिदेव देहाद्यहमंतमेतत्सर्वं चिदेवैकरसं
विशुद्धम् ॥ ३९१ ॥

जैसे जलमें तरङ्ग, फेन, जलका इकट्ठा घूमना और जलका बुद्बुद (अर्थात् बुल्ला) ये सब अनेक रूपसे दिखाई देते हैं परन्तु जलसे भिन्न नहीं हैं जलरूपही हैं । तैसे देह आदि अहंकार पर्यंत जितनी वस्तु दीखती हैं सो सब अखण्ड विशुद्ध चैतन्यस्वरूपही हैं चैतन्यसे भिन्न कुछभी पदार्थ नहीं है ॥ ३९१ ॥

सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः सतोऽन्य
न्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः ॥ पृथक्किं
मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं वदत्येष
भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया ॥ ३९२ ॥

सम्पूर्ण यह जगत् सत् ब्रह्म स्वरूपही है ऐसाही वचन मनसे निश्चय करो सत्से अन्य दूसरा कुछ अलग घट कलश कुम्भको जानता है वास्तवमें घट कलश कुम्भ ये सब मृत्स्वरूपही हैं तैसे मायारूप मदिरासे जो पुरुष भ्रमको प्राप्त है उसी पुरुषको यह तुम हो यह मैं हूं ऐसी भेदबुद्धि होती है वास्तवमें आत्मासे भिन्न कुछभी नहीं है सब आत्मस्वरूपही है ॥ ३९२ ॥

क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः ।
ब्रवीति द्वैतराहित्यं मिथ्याध्यासनिवृत्तये ॥ ३९३ ॥

मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेके लिये बहुतसी अद्वैतपरके श्रुतियां बार बार कहती हैं कि ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कुछभी नहीं है केवल नाम मात्रही भिन्न है ॥ ३९३ ॥

आकाशवन्निर्मलनिर्विकल्पनिःसीमनिष्पन्दन-
निर्विकारम् । अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमद्वयं
स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ॥ ३९४ ॥

आकाशके समान निर्मल विकल्प रहित सीमा चेष्टा और विकारसे रहित अन्तर्बहिः शून्य ऐसा अद्वितीय परब्रह्म स्वयं तुम हो, दूसरा बोध्य कुछभी नहीं है ॥ ३९४ ॥

वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं
ब्रह्मैतज्जगदाततं नु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतिः ।
ब्रह्मैवाहमिति प्रबुद्धमतयः संत्यक्तबाह्याः स्फुटं
ब्रह्मीभूय वसन्ति संततचिदानंदात्मनैतद्ध्रुवम् ३९५॥

बहुतसे वाग्जाल बढानेसे क्या प्रयोजन है सिद्धान्त यही है कि जीव स्वयं ब्रह्म है और सम्पूर्ण जो जगत् विस्तृत हुआ है सो सब ब्रह्म ही है क्यों कि श्रुतिभी कहती है कि ब्रह्म अद्वितीय है और जिनके अंतःकरणमें परम बोध हुआ है वे मनुष्य बाह्य विषयोंको त्याग करके मैं ब्रह्म हूं ऐसी बुद्धिसे ब्रह्मस्वरूप होकर सदा सच्चिदानन्दात्मकरूपसे निश्चल होकर वास करते हैं ॥ ३९५ ॥

जहि मलमयकोशेऽहंधियोत्थापिताशां
प्रसभमनिलकल्पे लिङ्गदेहेऽपि पश्चात् ।

निगमगदितकीर्त्तिं नित्यमानन्दमूर्त्तिं
स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ ॥ ३९६ ॥

श्रीशंकराचार्य्य स्वामी शिष्यसे बोले कि हे शिष्य ! मलमयकोश जो यह स्थूल शरीर है इस शरीरमें अहंबुद्धि होनेसे जो आशा लगी है उसे प्रथम त्याग करो पश्चात् वायुमदृश जो सूक्ष्म लिंगशरीर है उसकी आशाकोभी त्याग कर नित्य आनन्दमूर्ति जो परब्रह्म है जिनकी कीर्तिको वेद गान करता है वही ब्रह्मरूप होकर स्थिर रहो ॥ ३९६ ॥

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः ।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं तदा
तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥ ३९७ ॥

मृतकके समान इस देहको जबतक मनुष्य भजन करता है तबतक अपवित्र रहताहै और जन्म मरण व्याधि नाश आदि परम क्लेशको पाताहै । जो मनुष्य अपनेको शुद्ध चैतन्य अचल शिव-स्वरूप देखता है तब जनन मरण आदि क्लेशसे मुक्त होताहै एसा ही श्रुतिभी कहती है ॥ ३९७ ॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥ ३९८ ॥

अपने आत्मामें आरोपित जो मिथ्याज्ञान कल्पित सम्पूर्ण वस्तु है इन आरोपित वस्तुओंका त्याग करनेसे अपनेही अद्वितीय परिपूर्ण क्रिया रहित परब्रह्म शेष रहते है ॥ ३९८ ॥

समाहितायां सति चित्तवृत्तौ परात्मनि ब्रह्मणि
निर्विकल्पे । न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः
प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते ततः ॥ ३९९ ॥

जब विकल्पसे रहित परमात्मा सच्चिदानन्द परब्रह्ममें चित्तवृत्ति निश्चल हो जाती है तब कोई बाह्यवस्तुका विकल्प नहीं दीखता केवल प्रजल्पमात्र (अर्थात् वाचारम्भणमात्र) रह जाता है ॥ ३९९ ॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०० ॥

एक वस्तु जो परब्रह्म है उसमें जो विश्वका विकल्प हो रहा है सो सब मिथ्या ज्ञान कल्पित है क्योंकि निर्विकार निराकार विशेषसे शून्य परब्रह्ममें भेद नहीं है ॥ ४०० ॥

द्रष्टुर्दर्शनदृश्यादिभावशून्यैकवस्तुनि । निर्विकारे
निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०१ ॥

द्रष्टा दर्शन दृश्य इन तीनोंके भावसे शून्य अर्थात ईश्वरसे भिन्न अलग कोई वस्तु रहे तो उस वस्तुका द्रष्टा ईश्वर होसक्ता है और वह वस्तु दृश्य होगा और तभी ईश्वरमें दर्शन क्रियाका सम्भव होगा यदि ईश्वरसे भिन्न कुछभी नहीं है तो ईश्वर किसका द्रष्टा होगा इसलिये निर्विकार निराकार निर्विशेष शून्य ईश्वरमें कुछ भेद नहीं है ॥ ४०१ ॥

कल्पार्णव इवात्यन्तपरिपूर्णैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०२ ॥

प्रलय कालके समुद्र सदृश परिपूर्ण जो एक वस्तु निर्विकार निराकार विशेष शून्य परब्रह्म है उसमें कुछ भेद नहीं है ॥ ४०२ ॥

तेजसीव तमो यत्र प्रलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०३ ॥

जैसे सूर्यके उदय होते यावत् अन्धकार नष्ट हो जाताहै तैसे भ्रमका कारण सम्पूर्ण बाह्य विषय जिस परब्रह्ममें लय होजाताहै उस अद्वितीय विशेष शून्य परब्रह्ममें भेद कहां है ? ॥ ४०३ ॥

एकात्मके परे तत्त्वे भेदवार्त्ता कथं वसेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ॥४०४॥

एकात्मक जो अद्वितीय परब्रह्म है उसमें भेदकी वार्ता कैसे वास कर सकती है जैसे केवल सुखमात्रकी साधक जो सुषुप्ति अवस्था है उसमें भेद किसने देखा अर्थात् सुषुप्तिमें सुखके अनुभवसे अलग दूसरा कोई वस्तुका भान नहीं होता तैसे ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्मसे अलग कुछभी नहीं भासना ॥ ४०४ ॥

न ह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात्सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे । कालत्रयेणाप्यहिरीक्षितो गुणे नह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥ ४०५ ॥

ब्रह्मज्ञान होनेके बाद निर्विकल्प जो सच्चिदानन्द परमात्मा है उसमें विश्वका भान नहीं होता है विचार करनेसे रज्जुमें सर्प किसी कालमें किसीने नहीं देखा मृगतृष्णकामें नदी जलका एक बिन्दुभी किसीने नहीं पाया परन्तु भ्रममें रज्जुमें सर्पकाभी भान होता है और मृगतृष्णिकामें जल बुद्धिभी होता है तैसे आत्मामें जब तक अज्ञान है तब तक संसारसम्भावना होती है अज्ञान दूर होने पर आत्मासे भिन्न कुछभी नहीं दीखता ॥ ४०५ ॥

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः । इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते ॥ ४०६ ॥

ईश्वरमें जो द्वैत बुद्धि है सो माया कल्पित है केवल जो अद्वैत बुद्धि है वही यथार्थ है सुषुप्तिमें अद्वैतहीका भान होता है और बहुतसी श्रुतियां भी अद्वैतहीको स्पष्ट कहती है ॥ ४०६ ॥

अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम् ।
पण्डितै रज्जुसर्प्पादौ विकल्पो भ्रान्तिजीवनः॥४०७॥

जैसे अधिष्ठान जो रज्जु है उसमें आरोप्य जो सर्प है सो सर्प रज्जुसे भिन्न नहीं है, किन्तु रज्जुरूपही है तैसे जगत्का अधिष्ठान जो ब्रह्म है उसमें जो जगत्का आरोप हुआ है सो जगत् ब्रह्म स्वरूपही है जो विकल्प बुद्धि है सो सब भ्रान्ति कल्पित है. ॥ ४०७ ॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे चिदात्मनि ॥ ४०८ ॥

चित्तके चंचलतासे ही भ्रमसे विकल्प बुद्धि होती है चित्तके स्थिर होनेसे सब विकल्प नष्ट हो जाता है इस लिये सर्वव्यापक चैतन्य परमात्मस्वरूप ब्रह्ममें चित्तको स्थिर करो जिससे विकल्प बुद्धिका अभाव होकर केवल ब्रह्मतत्त्वही दीखताहै ॥ ४०८ ॥

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं निरुपमम-
तिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् । निरवधिगगनाभं
निष्कलं निर्विकल्पं हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म
पूर्णं समाधौ ॥ ४०९ ॥

कोई अनिर्वचनीय सदा बोधस्वरूप केवलानन्दस्वरूप उपमारहित नित्यमुक्त चेष्टारहित निःसीम आकाशके सदृश व्यापक और निर्मल कलासे शून्य निर्विकल्प ऐसा परिपूर्ण परब्रह्मको विद्वान् योगी लोग समाधिमें सदा ध्यान करते हैं ॥ ४०९ ॥

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं समरसमसमानं
मानसं बन्धदूरम् । निगमवचनसिद्धं नित्यमस्म-
त्प्रसिद्धं हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्मपूर्णं समाधौ ४१० ॥

प्रकृति विकृति भावसे शून्य और मनुष्योंके विचारका अगोचर सदा एकरस उपमारहित केवल मनका गोचर संसारी बन्धसे अतिरिक्त वेदवचनोंसे सिद्ध नित्य अस्मत् शब्दसे प्रसिद्ध ऐसा परिपूर्ण ब्रह्मको विद्वान् लोग सदा समाधिमें ध्यान करते हैं ॥ ४१० ॥

अजरममरमस्ताभाववस्तुस्वरूपं स्तिमितसलिलराशिं प्रख्यमाख्याविहीनम् । शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्मपूर्णं समाधौ ॥ ४११ ॥

अजर और अमर नाशसे रहित वस्तुस्वरूप निश्चल जलसमूहके सदृश गम्भीर नामसे रहित गुण और विकारसे शून्य भूत भविष्य वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें सदा वर्तमान शान्तस्वरूप अद्वितीय ऐसे परिपूर्ण परब्रह्मको विद्वानलोग सदा समाधिमें ध्यान करते हैं ॥४११॥

समाहितान्तःकरणः स्वरूपे विलोकयात्मानमखण्डवैभवम् । विच्छिन्धि बन्धं भवगन्धगन्धितं यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ॥ ४१२ ॥

अपने अन्तःकरणको सावधानतासे आत्मस्वरूपमें स्थिर रक्खो और अखण्ड विभवयुक्त परमात्माको सदा अवलोकन किया करो तथा संसारके गन्धसे युक्त बन्धनको छेदन करो। और बड़े पुण्यसे पुरुषका शरीर प्राप्त हुआ है इस शरीरको ज्ञान सम्पादन करके सफल करो ॥ ४१२ ॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् । भावयात्मानमात्मस्थं न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥४१३ ॥

हे विद्वन् ! सम्पूर्ण उपाधिसे विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द अद्वितीय शरीरस्थ आत्माको विचार किया करो जिससे फिर जन्म मरण क्लेश मार्गको तुम्हें नहीं भोगना पड़ेगा ॥ ४१३ ॥

छायेव पुंसः परिदृश्यमानमाभासरूपेण फलानुभूत्या । शरीरमाराच्छववन्निरस्तं पुनर्न संधत्त इदं महात्मा ॥ ४१४ ॥

मनुष्यके छाया सदृश आभास रूपसे दृश्यमान और फलके अनुभव करनेसे मृतक समान इस शरीरको समझके महात्मा लोग त्याग कर देते हैं तो फिर इस शरीरको प्राप्त नहीं होते ॥ ४१४ ॥

सततविमलबोधानन्दरूपं समेत्य त्यज जडमलरूपोपाधिमेतं सुदूरे । अथ पुनरपि नैष स्मर्यतां वान्तवस्तु स्मरणविषयभूतं कल्पते कुत्सनाय ॥ ४१५ ॥

सर्वथा विमल बोधरूप तथा आनन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त होकर जड और मलरूप इस उपाधि शरीरको दूरहीसे त्याग करो और त्याग किये पर फिर इस वान्त वस्तुको स्मरण मत करो क्योंकि वमन वस्तुओंका स्मरण करनेसे मनुष्य निन्दाको प्राप्त होता है ॥ ४१५ ॥

समूलमेतत्परिदह्य वह्नौ सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे । ततः स्वयं नित्यविशुद्धबोधानन्दात्मना तिष्ठति विद्वरिष्ठः ॥ ४१६ ॥

श्रेष्ठ विद्वान् महात्मा लोग निर्विकल्प सत्स्वरूप आत्मस्वरूप परब्रह्म रूप अग्निमें स्थूल सूक्ष्म जडरूप इस संसारको मूलसहित भस्म करके आप नित्य विशुद्ध बोध आनन्दस्वरूप होकर सदा स्थिर होते हैं ॥ ४१६ ॥

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं प्रयातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक् । न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्तानन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ॥ ४१७ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष शरीर आदि अनित्य वस्तुओंकी आशा छोड़ कर केवल आनन्दात्मक परब्रह्ममें चित्तवृत्तिको लय कर देते हैं पश्चात् प्रारब्ध कर्मका सूत्रमें ग्रथित यह शरीर रहे चाहे नष्ट होय निन्दित वस्तु जानकर फिर इसके तरफ दृष्टि नहीं करते ॥ ४१७ ॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति तत्त्ववित् ॥ ४१८ ॥

अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा अपनेको जानकर ब्रह्मज्ञानी पुरुष किस वस्तुकी इच्छासे और किस कारण इस देहको पालन करते हैं ॥ ४१८ ॥

संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः ।
बहिरन्तःसदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥ ४१९ ॥

समीचीन सिद्ध जीवन्मुक्त योगी होनेका यही फल है जो बाह्यमें और अंतरमें सच्चिदानन्द रसको अपनेमें आस्वादन किया करे ४१९

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥ ४२० ॥

वैराग्य होनेका फल यही है जो बोध होना और बोध होनेका फल यह है जो उपरति होना अर्थात विषयसे विमुख इन्द्रियोंका विषयसे वैराग्य होना अथवा विहित कर्मका संन्यास विधिसे त्याग करना आत्मानन्दरसको अनुभवसे शान्तिको प्राप्त होना यही उपरतिका फल है ॥ ४२० ॥

यद्युत्तरोत्तराभावः पूर्वपूर्वं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥ ४२१ ॥

यदि वैराग्यका मुख्य फल बोधही नहीं हुआ तो वैराग्य होना निष्फल है और बोधका फल उपरति न हुइ तो बोधभी होना निष्फल है । विषयसे निवृत्ति होनेपर परमतृप्ति होती है तृप्ति होने पर आपहीसे अनुपम आनन्द होता है ॥ ४२१ ॥

दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यायाः प्रस्तुतं फलम् ।
यत्कृतं भ्रान्तिवेलायां नानाकर्म जुगुप्सितम् ।
पश्चान्नरो विवेकेन तत्कथं कर्तुमर्हति ॥ ४२२ ॥

दृष्ट जो नानाप्रकारके दुःख हैं उन दुःखोंसे चित्तमें उद्वेग न होना यह विद्याका स्वाभाविक फल है अज्ञान दशामें नानाप्रकारका जो निन्दित कर्म किया वह कर्म विवेक होनेपर कैसे करेगा ॥ ४२२ ॥

विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः प्रवृत्तिरज्ञानफलं तदीक्षितम् । तज्ज्ञानयोर्यन्मृगतृष्णिकादौ नोचेद्विदां दृष्टफलं किमस्मात् ॥ ४२३ ॥

असत् वस्तुओंकी निवृत्ति होना यही ज्ञान होनेका फल है। और असत वस्तुओंकी प्रवृत्ति होना अर्थात् दिखाई देना यही अज्ञानका प्रसिद्ध फल है यह जो भ्रमात्मक ज्ञान तथा यथार्थ ज्ञान है इन दोनों ज्ञानोंका दृष्ट फल मृगतृष्णिकामें विद्वानोंको प्रसिद्ध है। अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान होनेसे मृगतृष्णिकामें असत जल दिखाई देता है और यथार्थ ज्ञान होनेपर वह असत जल निवृत्त होजाता है। इससे अधिक दृष्टफल क्या है ॥ ४२३ ॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्विनाशो यद्यशेषतः । अनिच्छोर्विषयः किन्तु प्रवृत्तेः कारणं स्वतः॥४२४॥

अज्ञानरूप हृदयग्रन्थिका यदि निर्मूल नाश होजावे तो इच्छा रहित पुरुषको स्वतः संसारमें प्रवृत्ति होनेका कौन विषय कारण होगा अर्थात् अज्ञानका नाश होनेपर कोई विषय पुनः प्रवृत्तिमें कारण नहीं होगा ॥ ४२४ ॥

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः । अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः ॥ ४२५॥

भोग्यवस्तुओंमें वासनाका उदय न होना यही वैराग्यका अवधि है और अहंकारका उदय न होना यह ज्ञान होनेकी परम अवधि है ॥ ४२५ ॥

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थधीरन्यावेदितभोग्यभोगकलनो निद्रालुवद्बा-

ऌवत् । स्वप्नालोकितलोकवज्जगदिदं पश्यन्क्व-
चिल्लब्धधीरास्ते कश्चिदनन्तपुण्यफलभुग्धन्यः
स मान्यो भुवि ॥ ४२६ ॥

ब्रह्मस्वरूपका प्राप्त होनेसे और सदा निश्चल होनेसे बाह्यवि षयोंकी बुद्धिका त्याग करनेवाला और दूसरेका दिया भोग्यव- स्तुओंको भोग करनेमें निंदित पुरुषके सदृश वह बालकसदृश अर्थात् विना मांगे किसीका दिया भोग्यवस्तुओंको जैसा बालक उस वस्तुका गुण न समझकर ग्रहण करलेता है तैसा ग्रहण करने वाला और स्वप्नका दीखा हुआ मिथ्या संसारके समान इस दृश्य जगत्कोभी मिथ्या समझता हुआ जो कोई ब्रह्मज्ञानी मनुष्य स्थिर रहता है वह अनन्त पुण्यका फलभागी है और पृथ्वीमें धन्य है और मान्य है ॥ ४२६ ॥

स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः ॥ ४२७ ॥

जो यति पुरुष परब्रह्ममें आत्माको लय करके विकार और क्रियासे रहित होकर सदा आनन्दको प्राप्त होता है वही पुरुष स्थित प्रज्ञ कहा जाता है ॥ ४२७ ॥

ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति
कथ्यते ॥ ४२८ ॥

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे शोधित जीवात्मा और पर ब्रह्ममें विकल्प बुद्धिसे रहित एकत्वभावको अवगाहन करनेवाली जो चैतन्य मात्रा वृत्ति इसीका नाम प्रज्ञा कहते हैं ॥ ४२८ ॥

सुस्थितासौ भवेद्यस्य स्थितप्रज्ञः स उच्यते ।
यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥ ४२९ ॥

जीवब्रह्मका एकत्वभावके प्राप्तकरनेवाली चैतन्य मात्रा प्रज्ञा जिसकी सुस्थिर है वह पुरुष स्थितप्रज्ञ कहाताहै जिसकी प्रज्ञा सुस्थिर है वही पुरुष निरन्तर आनन्द भोगता है प्रपञ्च जगत् जिसका विस्मृत हुआ वही पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है ॥४२९॥

लीनधीरपि जागर्त्ति यो जाग्रद्धर्मवर्जितः ।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३० ॥

अपनी बुद्धिको परब्रह्ममें लीन करनेपरभी जो मनुष्य जाग्रत धर्मसे वर्जित है अर्थात् संसारीक्रियासे रहित है वही पुरुष जागरण करता है । और जिस पुरुषका बोध बाह्य वासनासे रहित है वही जीवन्मुक्त है ॥ ४३० ॥

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३१ ॥

जिसकी संसारवासना शान्त होगई वह पुरुष आत्मकलनायुक्त होनेसेभी निष्कल कहाता है और जिसका चित्त चिन्तासे रहित है वही पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है ॥ ४३१ ॥

वर्त्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्त्तिनि ।
अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३२॥

प्रारब्धकर्मके अनुसार शरीरके वर्तमान रहते भी जिसका अहंकार और ममता छायाके सदृश है । अर्थात् अपना वशीभूत होकर क्षीणभावको प्राप्त है वही जीवन्मुक्त है ॥ ४३२ ॥

अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३३॥

बीतीहुई वस्तुओंका फिर अनुभव अथात पश्चात्ताप न करना तथा होनेवाली वस्तुओंका विचार अर्थात् कैसे प्राप्त होगा ऐसी प्रतीक्षा भी नहीं करनी और प्राप्त वस्तुमें उदासीन अर्थात् आसक्त न रहना यह जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ ४३३ ॥

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन् स्वभावेन विलक्षणे ।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३४ ॥

गुण और दोषसे संयुक्त और स्वभावसे विलक्षण जो यह संसार है इसमें समदृष्टि रखना यह जीवन्मुक्तका लक्षण है ॥ ४३४ ॥

इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि ।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३५ ॥

जिस पुरुषका इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेसे चित्तमें न हर्ष हुआ न तो अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेसे खेद हुआ किन्तु दोनों अवस्थाओंमें समदृष्टि होनेसे जिसको आत्मामें कोई तरहका विकार उत्पन्न न हुआ वह जीवन्मुक्त है ॥ ४३५ ॥

ब्रह्मानन्दरसास्वादासक्तचित्ततया यतेः ।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३६ ॥

ब्रह्मानन्द रसका आस्वादनमें आसक्तचित्त होनेसे बाह्य और आन्तरीयवस्तुका ज्ञान न होना केवल एक ब्रह्मानन्दरसहीका आस्वादनमें लीन रहना यह जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ ४३६ ॥

देहेन्द्रियादौ कर्त्तव्ये ममाहंभाववर्जितः ।
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥ ४३७ ॥

देहमें तथा इन्द्रियोंमें तथा कर्त्तव्य जितना वस्तु है इन सबमें ममता और अहंकारसे रहित होकर उदासीनतासे जो सदा स्थिर है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४३७ ॥

विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात् ।
भवबन्धविनिर्मुक्तः स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥ ४३८ ॥

श्रुतियोंके देखनेसे और विचारनेसे जीवात्मामें ब्रह्मभाव जिसका विज्ञात हुआ (अर्थात् जीव ब्रह्मकी एकता हुई वही पुरुष भवबन्धसे विनिर्मुक्त होकर जीवन्मुक्त कहाजाता है ॥ ४३८ ॥

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके ।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३९॥

देह इन्द्रियमें अहंभाव और अन्यवस्तुओंमें इदंभाव ये दोनों भावना जिस पुरुषको कभी किसी वस्तुमें नहीं होती है वह जीवन्मुक्त कहाजाता है ॥ ४३९ ॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणो भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः ।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥४४०॥

प्रत्यक्ष सर्वव्यापक ब्रह्मसे और ब्रह्माकी सृष्टिसे कभी भेद नहीं है ऐसा जो जानता है वह जीवन्मुक्त है ॥ ४४० ॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥ ४४१ ॥

समीचीन मनुष्योंसे इस देहकी पूजा होनेसे और दुर्जनोंसे पीडित होनेसे भी जिस मनुष्यका अन्तःकरण दोनों अवस्थाओंमें समभावको प्राप्त रहता है अर्थात सज्जनोंसे सत्कार पायके न प्रसन्न हुआ न तो दुर्जनोंके दुःख देनेसे दुःखित हुआ वह मनुष्य जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४४१ ॥

यत्र प्रविष्टा विषयाः परेरिता नदीप्रवाहादिव
वारिराशौ । लीयन्ति सन्मात्रतया न विक्रिया-
मुत्पादयन्त्येष यतिर्विमुक्तः ॥ ४४२ ॥

जैसे नदियोंके प्रवाहसे जल समुद्रमें जाकर समुद्रहीमें लीन होजाता है समुद्रकी वृद्धिको नहीं प्राप्त करता तैसे दूसरेका दिया हुआ विषय याने भोग्य वस्तु जिस मनुष्यके अन्तःकरणमें कोई तरहका विकार उत्पन्न न किया वही यति पुरुष जीवन्मुक्त है ॥४४२॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः ।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥४४३॥

जिस मनुष्यने ब्रह्मतत्त्वको जान लिया है उस पुरुषको पूर्वकाल सदृश फिर संसारसंभावना नहीं होती यदि वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष बहिर्मुख न हो अर्थात् फिर चित्तको बाह्यविषयमें आसक्त न करे तो ॥ ४४३ ॥

प्राचीनवासनावेगादसौ संसरतीति चेत् ।
न सदेकत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना ॥ ४४४ ॥

यदि कहो कि प्राचीन वासनाओंके वेगसे ब्रह्मज्ञानी पुरुषको भी संसार प्राप्त होता है सो न कहो क्योंकि सत् ब्रह्मज्ञानका एकत्व ज्ञान होनेसे वासना क्षीण होजाती है ॥ ४४४ ॥

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि ।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ॥ ४४५ ॥

जैसे अत्यन्त कामी पुरुषकी भी कामचेष्टा मातामें कुण्ठित होजाती है वैसे पूर्णानन्द ब्रह्मका ज्ञान होनेसे विद्वानोंकी पूर्ववासना कुण्ठित होजाती है ॥ ४४५ ॥

निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते ।
ब्रवीति श्रुतिरेतस्य प्रारब्धं फलदर्शनात् ॥ ४४६ ॥

प्रारब्धके फलका दर्शन ज्ञात होता है और श्रुतिभी कहती है कि निदिध्यासनशील अर्थात् आत्मवस्तुके विचार करनेवाला यति पुरुषके अंतःकरणमें बाह्यपदार्थकी प्रतीति बनी रहती है ॥४४६॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते ।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ॥४४७॥

जबतक सुखका अनुभव रहता है तबतक प्रारब्धकर्म बना रहता है । पूर्वमें क्रिया करनेसे तो फलका उदय होता है बिना क्रियाके फलसिद्धि नहीं होती ॥ ४४७ ॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम् ।
संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥४४८॥

में ब्रह्म हूं ऐसा विज्ञान होनेसे करोरहूं कल्पके अर्जित और संचितकर्म्म विलयको प्राप्त होते हैं जैसे जागनेपर स्वप्नावस्थाका कर्म सब नष्ट होजाता है ॥ ४४८ ॥

यत्कृतं स्वप्नवेलायां पुण्यं वा पापमुल्बणम् ।
सुप्तोत्थितस्य किं तत्स्यात्स्वर्गाय नरकाय वा॥४४९॥

जैसे स्वप्नअवस्थामें पुण्य अथवा घोर पाप किया उस पुण्य पापसे जागनेपर न स्वर्ग होता है न नरक होनेकी सम्भावना होती है तैसे पूर्वावस्थाका किया कर्मका फल ब्रह्मात्मैक्यज्ञान दशामें कुछभी नहीं होता ॥ ४४९ ॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा ।
न श्लिष्यति च यत्किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः॥४५०॥

जैसे आकाश निर्मल नभमें आसक्त नहीं है यावत् वस्तुओंमें उदासीन स्थित रहता है । तैसे जो मनुष्य आत्माको संगरहित उदासीन जानकर स्थित है वह मनुष्य कर्म किसी भावी कर्मसे लिप्त नहीं होगा ॥ ४५० ॥

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।
तथात्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ॥ ४५१ ॥

जैसे घटका योग होनेसे आकाश घटस्थमद्यके गन्धसे लिप्त नहीं होता तैसे नाना तरहके उपाधिके होनेसे आत्मा उपाधिके धर्मसे लिप्त नहीं होता ॥ ४५१ ॥

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्मज्ञानान्न नश्यति ।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ४५२॥

ज्ञान होनेके पहिले जो कर्म किया वह कर्म बिना अपना फल दिये समान ज्ञानसे नहीं नष्ट होता जैसे किसी एकलक्ष्यपर बाण छोडा जाय तो वह बाण लक्ष्यके मारे विना मध्यमें रुकता नहीं ४५२

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति च्छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥ ४५३ ॥

व्याघ्रबुद्धिसे बाण छोडा गया पश्चात् व्याघ्रकी गोबुद्धि होनेसे वह बाण मध्यमें नहीं रुकता लक्ष्यको घात करताही है तैसे अज्ञान दशामें जो कर्म किया उस कर्मका फल समान ज्ञान होने परभी भोगना पडेगा ॥ ४५३ ॥

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग् ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागा-
मिनम् । ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा
संस्थितास्तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव
तन्निर्गुणम् ॥ ४५४ ॥

ज्ञान तीन प्रकारका है सामान्यज्ञान, सम्यग्ज्ञान, ब्रह्मात्मैक्यज्ञान कर्मभी तीन प्रकारका है संचितकर्म, प्रारब्धकर्म, आगामीकर्म, इन सबोंमें अज्ञान दशामें तीनों कर्मोंका फल भोगना पडताहै सामान्य ज्ञान होनेपरभी बलवान् जो प्रारब्धकर्म है उसका नाश भोगनेहीसे होताहै । और सम्यक् ज्ञानरूप अग्निके प्रज्वलित होनेसे पूर्वसंचित-कर्म तथा आगामी कर्मकाभी लय होता है, जो मनुष्य ब्रह्मात्मज्ञान होनेसे ब्रह्ममय होकर सदा स्थिर रहते हैं उन ब्रह्मज्ञानियोंका तीनों प्रकारका कर्म नष्ट हो जाता है किसी प्रकार कर्म फलको भोगना नहीं पडता क्योंकि वह केवल निर्गुण ब्रह्महीं है ॥ ४५४ ॥

उपाधितादात्म्यविहीनकेवलब्रह्मात्मनैवात्मनि
तिष्ठतो मुनेः । प्रारब्धसद्भावकथा न युक्ता स्वप्ना-
र्थसंबन्धकथेव जाग्रतः ॥ ४५५ ॥

जैसे स्वप्न समयमें जो विषयोंका इन्द्रियोंसे संबन्ध होताहै वह संबन्ध जागने पर नष्ट होजाताहै तैसे देह आदि उपाधियोंका तादा-

त्म्यभावसे निवृत्त होकर केवल परब्रह्म आत्माकी एकत्व बुद्धिसे सुस्थिर मुनिलोगोंके प्रारब्ध कर्मका फलका सम्बन्ध कथन करना युक्त नहीं है । अर्थात् प्रारब्ध कर्मका फल भोगना नहीं पडता ॥४९५॥

नाहि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे देहोपयोगिन्यपि च प्रपञ्चे । करोत्यहन्तां ममतामिदन्तां किं तु स्वयं तिष्ठति जागरेण ॥ ४९६ ॥

सम्यक् ज्ञानी पुरुषोंको कर्म फल भोगना नहीं पडता इसका कारण यह है कि, ज्ञानीपुरुष प्रतिभास रूप इस देहमें अहंबुद्धि नहीं रखते और इस देहमें उपकारक जितना विषय प्रपञ्च है उसमें ममता इदंता अर्थात् यह मेरा है ऐसी बुद्धिको छोडके केवल आत्मस्वरूपमें जागरण करते हैं ॥ ४९६ ॥

न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा न संग्रहस्तज्जगतो-ऽपि दृष्टः । तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मृषार्थे न निद्र-या मुक्त इतीष्यते ध्रुवम् ॥ ४९७ ॥

मिथ्या विषयोंकी, प्रार्थनाकी इच्छा ब्रह्मज्ञानी मनुष्य नहीं करते और मिथ्या जगत्का संग्रहभी नही देखागया । यदि उस मिथ्यापदार्थमें अनुवृत्ति होती अर्थात् यथार्थबुद्धि होती तो निद्रासे मुक्त मनुष्यभी स्वप्नावस्थाके विषयोंको स्थिर मानते अर्थात जैसे स्वप्न दशाका देखा पदार्थ जागनेपर मिथ्या दीखप-डता है तैसे जगत्भी ज्ञानीकोभी मिथ्या है ॥ ४९७ ॥

तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्त्तमानः सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते । स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकितार्थे तथा विदः प्राशनमोचनादौ ॥ ४९८ ॥

परब्रह्ममें वर्तमान होकर आत्मस्वरूपसे जो सदा स्थिर है उनको ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कुछ नहीं दीखता जैसे स्वप्नावस्थाका

देखा पदार्थोंका स्मरण जागनेपर होताहै तैसे ज्ञान दशामें ज्ञानीका जगत्को मिथ्या स्मरणमात्र होताहै ॥ ४५८ ॥

कर्मणा निर्मितो देहः प्रारब्धस्तस्य कल्प्यताम् ।
नानादेरात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः ॥४५९॥

कर्महीसे देहका निर्माण होता है प्रारब्ध भी देहहीमें रहता है अनादि आत्माको कर्ममें निर्माणयुक्त नहीं है और आत्मा भी कर्मनिर्मित नहीं है ॥ ४५९ ॥

अजो नित्यः शाश्वत इति ब्रूते श्रुतिरमोघवाक् ।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ४६०॥

'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-' यह श्रुति आत्माको नित्य कहती है यहां आत्मस्वरूपसे वर्तमान मनुष्यका प्रारब्धकी कल्पना क्यों होगी ॥ ४६० ॥

प्रारब्धं सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥४६१॥

प्रारब्धकी सिद्धि तबतकही है जबतक देहमें आत्मबुद्धि स्थित है । ऐसी आत्मबुद्धि इस देहमें इष्ट नहीं है इस लिये प्रारब्धको त्याग करो ॥ ४६१ ॥

शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि ।
अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वमसत्त्वस्य कुतो जनिः४६२

यह शरीर प्रारब्धसे निर्मित है ऐसी कल्पना करना यहभी भ्रान्तिमात्रही है क्योंकि जो अध्यस्त है अर्थात् भ्रमसे उत्पन्न है वह सत्य कैसे होगा। जो असत्य है उसका जन्मभी नहीं है ॥ ४६२ ॥

अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ।
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ॥४६३॥

अज्ञानसे उत्पन्न जितने कार्य्य हैं उनको यदि ज्ञानसे समूल क्षय किया जाय तो जो अजात है (अर्थात् जिसका जन्मही नहीं है) उसका नाश कहांसे होगा और जो हुई नहीं है उसका प्रारब्ध भी नहीं है ॥ ४६३ ॥

तिष्ठत्ययं कथं देह इति शंकावतो जडान् ।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ।
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ॥४६४॥

यदि इस देहकी उत्पत्ति नहीं है तो यह वर्त्तमान क्यों है ऐसी शंका करनेवाले जो जड मनुष्य हैं उनको समाधान करनेके लिये बाह्यदृष्टिसे प्रारब्ध से देहकी उत्पत्ति श्रुति कहती है किन्तु विज्ञानोंको देहादिमें सत्यत्व बुझानेके लिये नहीं ॥ ४६४ ॥

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६५ ॥

अब यहांसे आगे श्लोकोंमें अद्वितीय ब्रह्मको सत्यत्व प्रतिपादन करते हैं । परिपूर्ण आदि अन्तसे प्रमाणसे रहित विकारसे शून्य एकही अद्वितीय ब्रह्म है और जो नानाप्रकारका जगत दीखता है सो सब कुछ नहीं है ऐसाही उपदेश किया जाता है ४६५

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६६ ॥

सत्यघन चैतन्यघन नित्यघन आनन्दघन और क्रियासे हीन एकही अद्वितीय ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं है ॥ ४६६ ॥

प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६७ ॥

प्रत्यक्ष एकरस परिपूर्ण आदि अन्तसे रहित सर्वव्यापक एकही अद्वितीय ब्रह्म सत्य है दूसरा कुछ नहीं है ॥ ४६७ ॥

अहेयमनुपादेयमनादेयमनाश्रयम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ॥ ४६८ ॥

अत्याज्य और अवाच्य अग्राह्य आश्रयसे रहित एकही अद्वितीय ब्रह्म सत्य है और जितना नाना प्रकारका प्रपञ्च है सो सब मिथ्याहै॥४६८॥

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६९ ॥

निर्गुण कलासे हीन सूक्ष्म (अर्थात् इन्द्रियोंका अगोचर) विकल्पसे रहित निर्मल एकही अद्वितीय ब्रह्म नित्य है और सब अनित्य है ॥ ४६९ ॥

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४७० ॥

जिनका स्वरूपको निश्चय किसीने नहीं किया और जो मन वचन दोनोंका अगोचर है वही एक अद्वितीय ब्रह्म नित्य है और सब प्रपञ्च मिथ्या है ॥ ४७० ॥

सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४७१ ॥

सत्यस्वरूप स्वतः सिद्ध स्वच्छ बोधस्वरूप उपमासे रहित एकही अद्वितीय ब्रह्म है दूसरा सब मिथ्या है ॥ ४७१ ॥

निरस्तरागा विनिरस्तभोगाः शान्ताः सुदान्ता
यतयो महान्तः । विज्ञाय तत्वं परमेतदन्ते
प्राप्ताः परां निर्वृतिमात्मयोगात् ॥ ४७२ ॥

जो महात्मालोग विषय रागको त्याग किया और विषय भोगकी इच्छा त्यागकर इन्द्रियोंका निग्रहकर अपने वश करलिया और चित्तवृत्तिको निरोध करके परमतत्त्वको जानलिया वह योगी आत्मसंयोग होनेसे परमसुखको प्राप्त होते हैं ॥ ४७२ ॥

भवानपीदं परतत्त्वमात्मनः स्वरूपमानन्दघनं विचार्य्य । विधूय मोहं स्वमनःप्रकल्पितं मुक्तः कृतार्थो भवतु प्रबुद्धः ॥ ४७३ ॥

इतनी शिक्षा देकर श्रीशंकराचार्यस्वामी शिष्यसे बोले कि तुमभी परमात्माका परमतत्व आनन्दघनस्वरूपको विचारकर मनका प्रकल्पित महामोहको छोडकर कृतार्थ प्रबुद्ध मुक्त होजाओ॥४७३॥

समाधिना साधुविनिश्चलात्मना पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा । निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते ॥ ४७४ ॥

समीचीनरीतिसे निश्चलात्मक समाधिसे और विकासित बोधरूप चक्षुसे आत्मतत्त्वको देखो यदि आत्मतत्त्वको सन्देहरहित समीचीनरीतिसे स्थिर करलोगे तो जितने श्रुतपदार्थ हैं सो फिर विकल्पको (अर्थात् संशयको) न प्राप्त होंगे ॥ ४७४ ॥

स्वस्याविद्याबन्धसंबन्धमोक्षात्सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ । शास्त्रं युक्तिर्देशिकोक्तिः प्रमाणं चान्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥ ४७५ ॥

अपना अज्ञानरूप बन्धका संबन्धसे मुक्त होनेपर सत्यज्ञान आनंन्दस्वरूप आत्मस्वरूपका लाभ होताहै इस विषयमें शास्त्र और युक्ति और श्रेष्ठोंका कहा प्रमाण है और अंतःकरणसे सिद्ध अपना अनुभवभी प्रमाण है ॥ ४७५ ॥

बन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिन्तारोग्यक्षुधादयः । स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञानं परेषामानुमानिकम् ॥४७६॥

क्षुधा और बन्धसे मोक्षतृप्ति चिन्ता आरोग्यक्षुधा ये सब अपनको मालूम होतेहैं अर्थात् जिसको बन्धनादिक प्राप्तहैं उसी पुरुषको इन सबका यथार्थ ज्ञान होता है और दूसरेका इन सबोंका

ज्ञान अनुमानसे अर्थात् बन्धआदिसे युक्त पुरुषकी चेष्टा दीखनेसे ज्ञान होता है ॥ ४७६ ॥

तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा ।
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीश्वरानुगृहीतया ॥ ४७७ ॥

जैसे श्रुति अलगसे लक्षणद्वारा पुरुषको बोध कराती है तैसे गुरुभी तटस्थ होकर बोध कराते हैं इसलिये ईश्वरका अनुग्रह युक्त केवल अपनी बुद्धिसे मनुष्य संसारको तरते हैं ॥ ४७७ ॥

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
संसिद्धः सम्मुखं तिष्ठेन्निर्विकल्पात्मनात्मनि ॥ ४७८ ॥

अपने अनुभवसे अखण्ड आत्माको स्वयं जानकर सिद्धपुरुष निर्विकल्परहित आत्मामें सम्मुख वर्तमान रहना उचित है ॥ ४७८ ॥

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च । अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥ ४७९ ॥

सम्पूर्ण जगत् और जीव ये सब ब्रह्मस्वरूपही है ऐसी वेदान्तके सिद्धान्तउक्ति है और अद्वितीय ब्रह्ममें अखण्डरूपसे अर्थात् भेदशून्य स्थिररहना यही मोक्षहै इसमेंभी श्रुतियां प्रमाण है ॥ ४७९ ॥

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणात्परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्त्या । प्रशमितकरणः समाहितात्मा क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोऽभूत् ॥ ४८० ॥

श्रुतियोंका प्रमाणयुक्त इस पूर्वउक्तगुरुके वचनसे और अपनी युक्तिसे परमात्मतत्त्वको जानकर और इन्द्रियोंको निग्रह करके चित्तवृत्तिको निरोध करनेसे निश्चलदेह होकर आत्मामें निष्ठा करो ॥ ४८० ॥

किंचित्कालं समाधाय परे ब्रह्मणि मानसम् ।
उत्थाय परमानन्दादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४८१ ॥

पूर्वोक्तप्रकारसे कुछ कालतक मनको स्थिर करि परमानन्द प्राप्त होनेके बाद उठकर आनन्दयुक्त होकर वक्ष्यमाण वचनको बोलना ॥ ४८१ ॥

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्तिर्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या । इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने किम्वा कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ॥ ४८२ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंको बोलनेकी यही रीति है कि ब्रह्म और परमात्मामें एकत्व प्राप्ति होनेसे मेरी बुद्धिका नाश हुआ और व्यवहारोंमें जो प्रवृत्ति थी सोभी नष्टको प्राप्त हुई और इदम् पदका अर्थ और इससे भिन्न हम कुछ नहीं जानते और क्या सुख है और कितना है इसका पार मैं नहीं पाता ॥ ४८२ ॥

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम् । अम्भोराशिविशीर्णवार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो यस्यांशांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निर्वृतम् ॥ ४८३ ॥

आत्मानन्दरूप अमृतके प्रवाहसे परिपूर्ण परब्रह्मरूप समुद्रके विभवको कहनेमें वचनकी सामर्थ्य नहीं है और मनभी नहीं कह सकता जैसा वर्षाकालमें जलकी धारासे टूटकर शिलाका खण्ड समुद्रमें जापडता है तैसे मेरा मन ब्रह्मानन्द समुद्रके एकदेशमें लय होकर इस समय आनन्दस्वरूप होकर परमसुखको प्राप्त है ॥ ४८३ ॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥ ४८४ ॥

ब्रह्मज्ञान होनेपर ऐसा मालूम होताहै कि, यह जगत् कहां गया, किसने इसको छिपालिया किसमें लीन हुआ अभी मुझे दीखताथा अब नहीं दीखता बड़ा आश्चर्यकी बातें हैं ॥ ४८४ ॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ॥ ४८५ ॥

कौन वस्तु त्याज्य है और क्या ग्राह्य है और क्या विलक्षण है ऐसेही अमृतसे परिपूर्ण ब्रह्मानन्द महासमुद्रमें मालूम होताहै ४८५

न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥ ४८६ ॥

अब यहां मैं कुछ नहीं देखता हूं न सुनता हूं न जानता हूं अपनेहीमें सदानन्दरूपसे विलक्षण मालूम होता हूँ ॥ ४८६ ॥

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय । नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे भूम्ने सदाऽपारदयाम्बुधाम्ने ॥ ४८७ ॥

संगसे रहित समीचीन उत्तम नित्य अद्वितीय आनन्दरसस्वरूपी अपारदयाका समुद्र ऐसे महात्मा श्रीगुरुको पुनः पुनः नमस्कार करता हूं ॥ ४८७ ॥

यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजश्रमः । प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ॥ ४८८ ॥

जिस श्रीगुरुमहाराजकी दृष्टिरूप चन्द्रमाका सघन किरणोंका सम्बन्ध होनेसे संसारी तापसे उत्पन्न जो खेद रहा उससे छूटकर क्षयसे रहित अखण्ड विभवानन्द जो आत्मपद है उस पदको क्षणमात्रमें मै प्राप्त हुआ ॥ ४८८ ॥

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं तदनुग्रहात् ॥४८९॥

श्रीगुरु महाराजकी कृपासे नित्य आनन्द स्वरूपको मैं प्राप्त हुआ इस लिये मैं पूर्ण हूं धन्य हूं और संसाररूप ग्रहसे विमुक्त होकर कृतकृत्य हूं ॥ ४८९ ॥

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमभङ्गुरः ।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहममलोऽहं चिरंतनः ॥ ४९० ॥

गुरुके अनुग्रहसे मैं असङ्ग हुआ असङ्गरहित चिह्नसे रहित नाशसे रहित प्रशान्त अनन्त निर्मल पुरातन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुआ ४९०

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमक्रियः ।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ॥ ४९१ ॥

कर्तृत्व भोक्तृत्व विकार क्रिया इन सबसे रहित बोधस्वरूप केवल सदाशिवस्वरूप मैं हूं ॥ ४९१ ॥

द्रष्टुः श्रोतुर्वक्तुः कर्तुर्भोक्तुर्विभिन्न एवाहम् । नित्य-
निरन्तरनिष्क्रियनिःसीमासङ्गपूर्णबोधात्मा ॥४९२॥

द्रष्टा श्रोता वक्ता कर्ता भोक्ता इन सबोंसे भिन्न नित्य सदा क्रियासे रहित निःसीम असंग पूर्ण बोधस्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ४९२ ॥

नाहमिदं नाहमदोऽप्युभयोरवभासकं परं शुद्धम् ।
बाह्याभ्यन्तरशून्यं पूर्णं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥४९३॥

न मैं यह हूं न तो वह हूं अर्थात् न स्थूल प्रपञ्च हूं न तो सूक्ष्म हूं किन्तु दोनोंका प्रकाशक बाह्य आभ्यन्तरसे शून्य पूर्ण अद्वितीय परम शुद्ध ब्रह्म मैं हूं ॥ ४९३ ॥

निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्प-
नादूरम् । नित्यानंदैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमे-
वाहम् ॥ ४९४ ॥

उपमासे रहित अनादितत्त्व त्वं अहं इदं इस कल्पनासे शून्य नित्य आनन्दैकरस सत्य अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ ॥ ४९४ ॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषो-
हमीशः । अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरो-
ऽहं निरहं च निर्ममः ॥ ४९५ ॥

मैं नारायण हूँ अर्थात् समुद्रशायी हूँ, नरक नामके दैत्यका अन्तक मैं हूँ, त्रिपुरासुरका हन्ता शिव मैं ही हूँ, पुराणपुरुष ईश्वर मैं हूँ, अखण्डबोध सबका साक्षी ममता अहंकारसे शून्य निरीश्वर ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ४९५ ॥

सर्वेषु भूतेष्वहमेव संस्थितो ज्ञानात्मनान्तर्बहि-
राश्रयः सन् । भोक्ता च भोग्यं स्वयमेव सर्वं
यद्यत्पृथग्दृष्टमिदंतया पुरा ॥ ४९६ ॥

सब प्राणियोंके हृदयमें ज्ञानरूपसे वर्तमान मैं हूँ और आश्रयरूपसे वर्तमान बाहर भीतर मैं हूँ भोक्ता और भोग्य जो जो वस्तु इदं शब्दकी प्रतीतिमें पहले देखा सो सब मैं स्वयं हूँ ॥ ४९६ ॥

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥ ४९७ ॥

अखण्ड सुखका समुद्र जो मैं हूँ तिसमें बहुतसी संसाररूप लहरी माया रूप मारुतके विभ्रमसे उत्पन्न होती हैं फिर उसीमें लयको भी प्राप्त होती हैं ॥ ४९७ ॥

स्थूलादिभावा मयि कल्पिता भ्रमादारोपितानु-
स्फुरणेन लोकैः । काले यथा कल्पकवत्सराय-
नर्त्वादयो निष्कलनिर्विकल्पे ॥ ४९८ ॥

जैसे निर्विकल्पक व्यापक जो एक काल है उसमें कल्प वत्सर अयन ऋतु आदि नानाभाव कल्पित होते हैं तैसे कला और विकल्पसे शून्य परब्रह्म स्वरूप हमारेमें जो स्थूल सूक्ष्म

आदि भावना है सो सब भ्रमसे और मिथ्या आरोपकी अनुकृतिसे मनुष्योंने कल्पना कर रक्खी है ॥ ४९८ ॥

आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्कदापि मूढैरतिदोषदूषितैः । नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं मरीचिकावारिमहाप्रवाहः ॥ ४९९ ॥

जैसे भ्रमसे मृगतृष्णिकामें जो जलप्रवाहका बोध होता है उस आरोपित जलप्रवाहसे ऊपर भूमि कभी भिन्न नहीं हो सकती तैसे अत्यन्त दोषसे दूषित मूढ जनोंने ब्रह्ममें आरोपित जो संसार है सो संसाराश्रय जो ब्रह्म है उसको अपने दोषसे दूषित नहीं कर सकता ॥ ४९९ ॥

आकाशवल्लेपविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् । आहार्य्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥ ५०० ॥

ब्रह्मज्ञानीकी उक्ति है कि जैसे आकाश सब वस्तुओंमें रहता है परन्तु किसीके गुणसे लिप्त नहीं होता तैसे मैं विषयलेपसे दूरस्थ हूं और सूर्य्यके सदृश प्रकाश्यवस्तुसे भिन्न हूं अर्थात् जैसे सूर्य्य विषयोंको प्रकाश करते हैं परन्तु विषयोंसे भिन्न हैं पर्वतोंके सदृश सदा निश्चल हूं समुद्र सदृश पारावारसे वर्जित हूं अर्थात् मेरा अन्त किसीने नहीं पाया ॥ ५०० ॥

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः । अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥ ५०१ ॥

जैसे मेघके साथ आकाशका कुछ सम्बन्ध नहीं है तैसे इस देहसे मुझसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये देहका जो जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति आदि धर्म है सो क्यों हमारेमें होसकता है ॥ ५०१ ॥

उपाधिरायाति स एव गच्छति स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते । स एव जीर्यन्म्रियते सदाहं कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः ॥ ५०२ ॥

परब्रह्ममें जो नानाप्रकारकी उपाधि मालूम होती है वही उपाधि इस लोकमें आती है फिर अलगभी जाती है वही सब कर्मोंका कर्ता है और वही उपाधि अपने किये कर्मका फल भोगती है वही वृद्ध होकर मृत्युको प्राप्त होती है और मैं तो महापर्वतोंके सदृश निश्चल होकर सदा वर्तमान रहता हूं ऐसी जीवन्मुक्तोंकी उक्ति है ॥ ५ २ ॥

न मे प्रवृत्तिर्न च मे निवृत्तिः सदैकरूपस्य निरंशकस्य । एकात्मको यो निबिडो निरन्तरो व्योमेव पूर्णः स कथं नु चेष्टते ॥ ५०३ ॥

जीवन्मुक्तोंकी उक्ति है कि मैं अंशसे रहित सदा एकरूपसे वर्तमान हूं मेरी किसी विषयोंमें न प्रवृत्ति है न तो किसीमें निवृत्ति है क्योंकि जो एक आत्मा होकर सदा सर्वत्र आकाश सदृश पूर्णरूपसे व्यापक होगा सो क्योंकर किसी तरहकी चेष्टा करेगा ॥५०३॥

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य निश्चेतसो निर्विकृतेर्निराकृतेः । कुतो ममाखण्डसुखानुभूतेर्ब्रूते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुतिः ॥ ५०४ ॥

इन्द्रिय और चित्त आकृति और विकृति इन सबसे शून्य अखण्ड सुखका अनुभव करनेवाले मुझको पुण्य और पाप कहांसे होगा क्योंकि पुण्य पाप सब इन्द्रियजन्य हैं मैं इन सबसे विलक्षण हूं ऐसाही श्रुतिभी कहती है ॥ ५०४ ॥

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा सुष्ठु दुष्ठु वा । न स्पृशत्येव यत्किञ्चित्पुरुषं यद्विलक्षणम् ॥५०५॥

जैसे मनुष्योंकी छाया उष्ण शीत अच्छा बेजाय सब प्रकारकी वस्तुओंको स्पर्श होनेका सुख अथवा दुःख मनुष्योंको कुछभी नहीं मालूम होता तैसे शरीर आदि उपाधिका धर्म जो पुण्य पाप है सो ईश्वरमें कभी नहीं होता ॥ ५०५ ॥

न साक्षिणं साक्ष्यधर्मा संस्पृशन्ति विलक्षणम्।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥ ५०६ ॥

जैसे गृहका मालिन्य आदि धर्म गृहके दीपकको नहीं स्पर्श करते तैसे देह आदि साक्ष्य वस्तुओंका जो सुख दुःख आदि धर्म हैं सो विकारसे शून्य उदासीन सबसे विलक्षण जो साक्षी ईश्वर है उनको नहीं स्पर्श करता है ॥ ५०६ ॥

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो वह्नेर्यथा दाहनियामकत्वम्। रज्जोर्यथारोपितवस्तुसङ्गस्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ॥ ५०७ ॥

जैसे सूर्य्योदय होनेपर मनुष्योंकी चेष्टा कर्ममें प्रवृत्त होती है परन्तु सूर्य्य उन कर्मोंका केवल साक्षी मात्र है जैसे अग्नि दाहका नियामक है दाहका प्रवर्त्तक नहीं है क्योंकि अग्निका स्वतः ऐसा स्वभावही है और रज्जुमें जैसे आरोपित सर्पका संसर्ग होता है तैसाही साक्षिभाव देह आदि विषयोंमें कूटस्थ चैतन्य आत्मस्वरूप मेरको है ॥ ५०७ ॥

कर्त्तापि वा कारयितापि नाहं भोक्तापि वा भोजयितापि नाहम्। द्रष्टापि वा दर्शयितापि नाहं सोहं स्वयं ज्योतिरनीदृगात्मा ॥ ५०८ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषकी उक्ति है कि मैं न किसी वस्तुका कर्त्ता हूं न तो किसीका कारयिता हूं न मैं भोक्ता हूं न तो भोजन करने वाला हूं न द्रष्टा हूं न किसीको देखनेवाला हूं सबसे विलक्षण उपमासे रहित वही स्वयंप्रकाशरूप आत्मा मैं हूं ॥ ५०८ ॥

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमौपाधिकं मूढधियो नयन्ति। स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं कर्त्तास्मि भोक्तास्मि हतोस्मि हेति ॥ ५०९ ॥

जीवन्मुक्त बोलते हैं कि, बड़े कष्टकी बात है उपाधिके चञ्चल होनेसे औपाधिक जो प्रतिबिम्बका लौल्य है उसकी चञ्चलता मूढ मनुष्य आत्मामें मानते हैं जैसे जलके चञ्चल होनेसे क्रियारहित जलस्थ सूर्यके प्रतिबिम्बको चञ्चल मानते हैं तैसे देह आदिमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे देहका कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म आत्मामें मानते हैं इससे अधिक क्या कष्ट है ॥ ५०९ ॥

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥ ५१० ॥

यह जो जडात्मक देह है सो जलमें गिरे चाहे पृथ्वीमें गिरे परन्तु इस देहके धर्मसे ब्रह्मरूप मैं लिप्त नहीं होता जैसे घटका आलिन्यादि धर्मसे आकाश लिप्त नहीं होता ॥ ५१० ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वखलत्वमत्तताजडत्वबद्धत्वविमु-
क्ततादयः । बुद्धेर्विकल्पा न तु सन्ति वस्तुतः
स्वस्मिन्परे ब्रह्मणि केवलेऽद्वये ॥ ५११ ॥

कर्तृत्व भोक्तृत्व कुटिलता उन्मत्तता जडता बन्ध मोक्ष आदि ये सब बुद्धिके विकल्प हैं किन्तु अद्वितीय केवल परब्रह्मस्वरूप मुझ आत्मामें ये कोई धर्म नहीं रहते ॥ ५११ ॥

सन्तु विकाराः प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्रधा वापि ।
किं मेऽसङ्गचितेस्तैर्न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ५१२

जीवन्मुक्त पुरुष कहते हैं कि, दशप्रकारका अथवा सब प्रकारका चाहे हजार तरहका प्रकृतिका विकार होनेसेभी मेरी क्या हानि है क्योंकि मैं सब विकारोंके संगसे रहित चैतन्यरूप हूं मुझको कोई विकार स्पर्श नहीं करते जैसे मेघ आकाशको स्पर्श नहीं करता ५१२

अव्यक्तादिस्थूलपर्यन्तमेतद्विश्वं यत्राभासमात्र-
प्रतीतम् ॥ व्योमप्रख्यं सूक्ष्ममाद्यन्तहीनं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥ ५१३ ॥

बुद्धि आदि स्थूल देहपर्यन्त सब विश्व जिसमें मिथ्या आभासमात्र प्रतीत होना है वही आकाशसदृश व्यापक सूक्ष्म आदि अन्तसे रहित जो अद्वितीय ब्रह्म है वही मैं हूं ॥ ५१३ ॥

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम् । नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहास्मि ॥ ५१४ ॥

सबका आधार और सब वस्तुओंका प्रकाशक सबका आकार और सबमें रहनेवाला सबसे शून्य नित्य शुद्ध निश्चल विकल्पसे रहित जो अद्वितीय ब्रह्म है सोई ब्रह्म मैं हूं ॥ ५१४ ॥

यत्प्रत्यस्ताशेषमायाविशेषं प्रत्यग्रूपं प्रत्ययागम्यमानम् । सत्यज्ञानानन्तमानन्दरूपं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥ ५१५ ॥

जिसमें सम्पूर्ण मायाका आदि लयकरके भास होता है ऐसा जो व्यापकरूप प्रत्यक्ष प्रतीतिके अगोचर सत्य ज्ञान अनन्त आनन्दरूप अद्वितीय ब्रह्म है सोई ब्रह्म मैं हूं ऐसी ब्रह्मज्ञानीकी उक्ति है ५१५

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः । निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥ ५१६ ॥

मैं क्रिया और विकारसे रहित हूं और कलासे आकृतिसे भी शून्य हूं विकल्पसे रहित और अवलम्बसे रहित अद्वितीय नित्य ब्रह्म मैं हूं ॥ ५१६ ॥

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः । केवलाखण्डबोधोऽहमानन्दोऽहं निरन्तरम् ॥ ५१७॥

सबका आत्मा मैं हूं और जो कुछ वस्तु है सो हमसे भिन्न नहीं

है और सबसे अतिरिक्त भी मैं हूं अद्वितीय केवल अखण्डबोध निरन्तर आनन्दरूप ब्रह्म मैं ही हूं ॥ ५१७ ॥

स्वाराज्यसाम्राज्यविभूतिरेषा भवत्कृपाश्रीमहिमप्रसादात् । प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥ ५१८ ॥

गुरुके प्रति शिष्यकी उक्ति है—हे श्रीगुरुमहाराज ! आपकी कृपासे व महिमाके प्रसादसे स्वर्गका: अखण्ड राज्यकी विभूति मैं पाया इस लिये महात्मा श्रीगुरुमहाराजको वारम्वार मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५१८ ॥

महास्वप्ने मायाकृतजनिजरामृत्युगहने भ्रमन्तं क्लिश्यन्तं बहुलतरतापैरनुदिनम् । अहंकाराव्याघ्रव्यथितमिममत्यन्तकृपया प्रबोध्य प्रस्वापात्परमवितवान्मामसि गुरो ॥ ५१९ ॥

हे श्रीगुरुमहाराज ! मायाकृत जो जन्म जरा मृत्यु है इन सबसे कठिन महास्वप्न सदृश इस संसारका जो अत्यन्त दुःख है उस दुःखसे क्लेश पाकर रातदिन भ्रमणमें प्राप्त और अहंकाररूप महाव्याघ्रसे अत्यन्त व्यथित मुझको आपने अति कृपाकर प्रबोध कराय इन सब भ्रान्तियोंसे रक्षित किया ॥ ५१९ ॥

नमस्तस्मै सदैकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः । यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते ॥ ५२० ॥

हे गुरुराज ! आपको सदा नमस्कार करता हूं जो आप अनिर्वचनीय स्वयं प्रकाश ब्रह्मरूप होकर इस विश्वरूपसे विराजमान हैं ५२०

इति नतमवलोक्य शिष्यवर्य्यं समधिगतात्मसुखं प्रबुद्धतत्त्वम् । प्रमुदितहृदयः स देशिकेन्द्रः पुनरिदमाह वचः परं महात्मा ॥ ५२१ ॥

परमतत्त्वको जानकर आत्मसुखको प्राप्त जो शिष्यवर उसकी ऐसी नम्रता देखकर प्रसन्न हृदयसे उपदेष्टा महात्मा श्रीगुरुमहाराज फिर यह वचन बोले ॥ ५२१ ॥

ब्रह्मप्रत्ययसन्ततिर्जगदतो ब्रह्मैव सत्सर्वतः पश्याध्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि । रूपादन्यदवेक्षितं किमभितश्चक्षुष्मतां दृश्यते तद्वद्ब्रह्मविदः सतः किमपरं बुद्धेर्विहारास्पदम् ॥ ५२२ ॥

हे शिष्य ! प्रशान्त मन होकर आत्मदृष्टिसे सब अवस्थाओंमें देखो कि, ब्रह्म प्रत्ययका संतान सब जगत् है इसलिये सब ब्रह्ममय है जैसे नेत्रसे चारोंतरफ देखनेमें नेत्रवान् पुरुषोंको रूपसे अन्य दूसरा कुछ नहीं दीखता तैसे ब्रह्मज्ञानीको सच्चिदानन्द पर ब्रह्मसे भिन्न बुद्धिका विहारस्थान दूसरा कुछ नहीं है ॥ ५२२ ॥

कस्तां परानन्दरसानुभूतिमुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् । चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत् ॥ ५२३ ॥

कौन ऐसा विद्वान् होगा जो परमानन्दरसका अनुभव छोडकर मिथ्या विषयोंमें रमण करेगा जैसे परमप्रकाशक सुखप्रद चन्द्रमाका दर्शन छोडकर कौन ऐसा मनुष्य होगा जो चित्रके लिखे चन्द्रमाको देखेगा ॥ ५२३ ॥

असत्पदार्थानुभवेन किंचिन्नह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहानिः । तदद्वयानन्दरसानुभूत्या तृप्तः सुखं तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥ ५२४ ॥

असत् पदार्थोंके अनुभव करनेसे न तृप्ति होगी न दुःखका

नाशहो होगा। इसलिये अद्वयानन्द रसके अनुभवमें तृप्त होकर आत्मनिष्ठासे सदा वर्त्ताव करो ॥ ५२४ ॥

स्वमेव सर्वथा पश्यन् मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानः कालं नय महामते ॥५२५॥

गुरुमहाराज शिष्यको शिक्षा करते हैं कि आत्मस्वरूपको सर्वथा देखता हुआ आत्माको नाशरहित मानो और आत्मानन्द रसके भोग करता हुआ कालको व्यतीत करो ॥ ५२५ ॥

अखण्डबोधात्मनि निर्विकल्पे विकल्पनं व्योम्नि पुरःप्रकल्पनम् । तदद्वयानन्दमयात्मना सदा शान्तिं परामेत्य भजस्व मौनम् ॥ ५२६ ॥

विकल्पसे रहित अखण्ड बोधात्मक परब्रह्ममें जो नाना प्रकारकी कल्पना है सो सब आकाशमें मिथ्यापुरकी प्रकल्पना सदृश मिथ्या है इस कारण अद्वितीय आनन्दमय आत्मस्वरूपसे मौन होकर परम शान्तिका भजन करो ॥ ५२६ ॥

तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिर्बुद्धेरसत्कल्पविकल्पहेतोः । ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनो यत्राद्वयानन्दसुखं निरन्तरम् ॥ ५२७ ॥

असत्कल्पविकल्पका कारण जो बुद्धि है उसके शान्तिके लिये मौन अवस्थाको प्राप्त होना ब्रह्मज्ञानी महात्माके लिये उत्तम है जिस अवस्थामें ब्रह्मस्वरूप होकर अद्वितीयानन्द सुखको निरन्तर अनुभव होता है ॥ ५२७ ॥

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम् ।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥ ५२८ ॥

जिसने आत्मस्वरूपको जान लिया और आत्मानन्द रसको पान

करता है उनकी वासनाको त्याग करना और मौनका धारण करना इससे अधिक दूसरा कुछ सुखदायक नहीं है ॥ ५२८ ॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ५२९॥

विद्वान मुनिलोगोंको उचित है जो चलते खडे होते बैठते सोते हुए सर्वथा आत्माराम होकर यथेच्छाचरणसे वास करें ॥ ५२९ ॥

न देशकालासनदिग्यमादिलक्ष्याद्यपेक्षाप्रतिबद्ध-
वृत्तेः । संसिद्धतत्त्वस्य महात्मनोऽस्ति
स्ववेदने का नियमाद्यवस्था ॥ ५३० ॥

जिस महात्माका आत्मतत्त्व सिद्ध हुआ और जिनकी वृत्ति प्रतिबद्ध हुई उसके लिये देश काल, आसन, दिशा, यम, नियम आदि ध्यानकी सामग्री अपेक्षित नहीं है क्योंकि यम, नियम आदिका फल ब्रह्मज्ञान है सो ज्ञान यदि होगया तो ये सब व्यर्थही है ॥ ५३० ॥

घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः कोन्ववेक्षते ।
विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः ॥५३१॥

जैसा यह घट है ऐसा ज्ञान होनेके लिये किसी नियमकी अपेक्षा नहीं होती तैसे प्रमाण अच्छा होनेसे भी मन ब्रह्मके बोध होनेमें पदार्थ बुद्धि होती है ॥ ५३१ ॥

अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते ।
न देशं नापि वा कालं न शुद्धिं वाप्यपेक्षते५३२॥

प्रमाण रहनेसे यह आत्मा नित्य सिद्ध मालूम होताहै और देश काल शुद्धि इन सबकी अपेक्षा आत्मज्ञान होनेमें नहीं होती ५३२॥

देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम् । तद्वद्ब्रह्म-
विदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ॥ ५३३ ॥

जैसा मैं देवदत्त नामक हूँ ऐसा अपने ज्ञानमें किसीकी अपेक्षा नहीं होती तैसे ब्रह्मज्ञानीका भी मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञानमें किसीकी अपेक्षा नहीं होती ॥ ५३३ ॥

भानुनेव जगत्सर्वं भासते यस्य तेजसा । अना-
त्मकमसत्तुच्छं किन्तु तस्यावभासकम् ॥ ५३४ ॥

जैसे सूर्य्यके उदय होनेसे जगत भासता है तैसे जिस परब्रह्मके तेजसे आत्मासे भिन्न अनित्य झूठा जगत् भासता है तो उस ब्रह्मका अवभासक दूसरा कौन होगा ॥ ५३४ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि । येनार्थ-
वन्ति तं किंनु विज्ञातारं प्रकाशयत् ॥ ५३५ ॥

वेद शास्त्र पुराण और सब भूतमात्र ये सब वस्तु जिससे अर्थवान् होते हैं उस विज्ञाता ईश्वरको दूसरा कौन प्रकाशक होगा ॥ ५३५ ॥

एष स्वयंज्योतिरनन्तशक्तिरात्माऽप्रमेयः
सकलानुभूतिः । यमेव विज्ञाय विमुक्तबन्धो
जयत्ययं ब्रह्मविदुत्तमोत्तमः ॥ ५३६ ॥

यह आत्मा स्वयं प्रकाशरूप है इसकी शक्तिका किसीने अन्त नहीं पाया प्रमासे रहित सबका अनुभव करता है इस आत्माको जाननेसे ब्रह्मज्ञानी बन्धसे मुक्त होकर सबमें उत्तम कहा जाताहै ५३६

न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते न सज्जते नापि
विरज्यते च । स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति
स्वयं निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ॥ ५३७ ॥

ब्रह्मज्ञान होनेपर योगी लोग न खेदको प्राप्त होते न तो विषय प्राप्त होनेसे प्रसन्न होते न किसीमें आसक्त होते न किसीसे विरक्त होते केवल आत्मस्वरूपको पाकर स्वयं सदा आनन्दरससे तृप्त होकर विहार करते हैं ॥ ५३७ ॥

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।
तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ॥ ५३८ ॥

जैसे भूख व प्यास त्यागकर और देहकी व्यथाको भी, छोड-कर बालक क्रीडामें आसक्त रहता है तैसाही विद्वान् पुरुष ममता अहंकारको छोडकर सुखी हो विहार करता है ॥ ५३८ ॥

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्ष्यमशनं पानं सरिद्वारिषु स्वातन्त्र्येण निरंकुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने । वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही संचारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडापरे ब्रह्मणि ॥ ५३९ ॥

ब्रह्मज्ञानीका स्वभाव वर्णन है चिन्ता और दीनताओ त्याग कर समयपर भिक्षा लेकर भोजन करना और नदियोंमें जल पीना स्वतन्त्र होकर जहां चित्त लगे वहां बैठना और भयसे रहित होकर श्मशान भूमिमें चांहे वनमें निद्रा करना वस्त्र जो है उसको धोने सुखानेका यत्न न करना अथवा नंगे रहना भूमिकी शय्या करलेना और वेद वेदान्तरूप वन वीथियोंमें भ्रमण करना और परब्रह्ममें क्रीडा करना इस रीतिमें आत्मज्ञानीको विहार करना चाहिये ५३९

विमानमालम्ब्य शरीरमेतद्भुनक्त्यशेषान्विषयानुपस्थितान् । परेच्छया बालवदात्मवेत्ता योऽव्यक्तलिंगोऽननुसक्तबाह्यः ॥ ५४० ॥

आत्मज्ञानी महात्मा पुरुष शरीररूप एक विमानके अवलम्ब करे विना यत्न उपस्थित संपूर्ण विषयोंको पराई इच्छासे भोग करते हैं जैसा बालक सब विषयोंको पराये कहने माफिक स्वीकार करलेते हैं परन्तु वह ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपको छिपकर किसी बाह्य विषयोंमें अनुराग नहीं रखते ॥ ५४० ॥

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः । उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ॥ ५४१ ॥

चैतन्यरूपहीं वस्त्रधारण करि ब्रह्मज्ञानी महात्मा कभी नंगे होजाते हैं कभी वस्त्र पहिनकर कभी चर्माम्बरको धारण कर उन्मत्तके समान कभी बालक समान कभी पिशाचसमान होकर भूमण्डलमें विचरते हैं ॥ ५४१ ॥

कामान्निष्कामरूपी संश्चरत्येकचरो मुनिः । स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ॥ ५४२ ॥

ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूपमें सदा संतुष्ट होकर और सर्वात्मस्वरूप होकर निष्कामरूपमें सब कामको करते भी हैं पर अपने स्व ब्रह्महीमें मग्न रहते हैं ॥ ५४२ ॥

क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः । क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदितश्चर त्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥ ५४३ ॥

ब्रह्मवित् महात्मा कहीं मूढ़ समान दिखाई देते हैं कभी विद्वान् हो बैठते हैं कहीं महाराजोंका विभव भोगते हैं कहीं भ्रान्त रूपसे दिखाई देते हैं कहीं तो सौम्य रूप होजाते कहीं अजगरोंके आचरण युक्त होते हैं कहीं महात्मा बनकर पूजित होते हैं कहीं अनादर भी पाते हैं कहीं छिपे रहते हैं कहीं प्रकट रहते हैं इस प्रकारके ज्ञानी महात्मा सदापरमानन्द सुखसे सुखी होकर विचरते हैं ५४३

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः । नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ॥ ५४४ ॥

ब्रह्मज्ञानी यद्यपि निर्धन हैं तौभी सदा संतुष्ट रहते हैं यद्यपि उनका कोई सहायक नहीं रहता तौभी वह महाबलिष्ठ ही रहते हैं भोजनभी नहीं करते तोभी सदा तृप्तही रहते हैं यद्यपि वे सबके तुल्य नहीं हैं तोभी सबको अपने समानही दीखते हैं ॥ ५४४ ॥

अपि कुर्वन्नकुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ।
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ॥ ५४५ ॥

यद्यपि ज्ञानी पुरुष बाह्य कर्मको करते हैं तथापि अपने कुछ नहीं करते यद्यपि अभोक्ता हैं तौभी फल भोगते हैं शरीरी हैं तथापि अपनेको शरीरी नहीं मानते हैं तौ परिच्छिन्न पर अपनेको सर्व-व्यापकही मानते हैं ॥ ५४५ ॥

अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित् ।
प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ॥ ५४६ ॥

ऐसे ब्रह्मज्ञानी यद्यपि सदा वर्तमानहैं तथापि वह शरीर रहितहैं इस लिये कभी उनको प्रिय चाहे अप्रिय शुभ चाहे अशुभ स्पर्श नहीं करताहै ॥ ५४६ ॥

स्थूलादिसंबन्धवतोऽभिमानिनः सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च । विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः कुतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा ॥ ५४७ ॥

इस स्थूल देहसे सम्बन्ध करनेवाले जो अभिमानी पुरुष हैं उन्हींको सुख और दुःख शुभ और अशुभ होते हैं जो इस स्थूल देहके बन्धसे मुक्त हुए उनको शुभ अशुभका फल कहांसे होगा ५४७

तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः । ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ॥ ५४८ ॥

तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम् । पश्यन्ति देहवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ॥ ५४९ ॥

जैसे राहु सूर्य्यको ग्रास नहीं करता किन्तु मनुष्योंकी दृष्टिमें भेद उत्पादन करता है इस यथावद्वस्तुको न जानकर मनुष्य सूर्य्यको ग्रस्त कहते हैं तैसे देह आदि बन्धसे विमुक्त उत्तम ब्रह्मज्ञानीको शरीरका आभास दीखनेसे मूढ जन देहसे बद्ध दीखते हैं ॥ ५४८ ॥ ५४९ ॥

अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्त्वा देहं तु तिष्ठति ।
इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ॥ ५५० ॥

जैसे सर्प अपने चर्ममय देहको छोडकर प्राणवायुसे इतस्ततः चंचलताको पाकर अन्यत्र स्थित होताहै तैसे ज्ञानीभी इस देहका स्नेह छोडकर इतस्ततः वर्त्तमान होते हैं ॥ ५५० ॥

स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम् ।
दैवेन नीयते देहो यथा कालोपभुक्तिषु ॥ ५५१ ॥

जैसे जलके प्रवाहसे काष्ठ नीचे ऊंचे जमीन पर प्राप्त होता है तैसे प्रारब्ध कर्मसे यह देहभी कालके उपभोगमें प्राप्त होता है ॥ ५५१ ॥

प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः संसारिवच्चरति
भुक्तिषु मुक्तदेहः । सिद्धः स्वयं वसति साक्षिवदत्र
तूष्णीं चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः ॥ ५५२ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुषका जो ममतासे रहित यह देह है सो देह प्रारब्ध कर्मसे कल्पित जो नानाप्रकारकी वासना है उसी वासनाप्रवाहसे भोग्य वस्तुओंमें संसारी मनुष्योंके नाईं प्राप्त है और ज्ञानी पुरुष साक्षीके समान इस विषयमें अपने मौन होकर इस देहका तारतम्यको देखते हैं जैसे रथके चक्रमें जो मूल है जिसको धूरा कहते हैं वह मूल क्रियाशून्य होकर चक्रके वेगको साक्षीरूपसे दीखताहै आप कोई यत्न नहीं करता है ॥ ५५२ ॥

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियुंक्त एष नैवापयुंक्त
उपदर्शनलक्षणस्थः । नैव क्रियाफलमपीषदवेक्षते
स स्वानन्दसान्द्ररसपानसुमत्तचित्तः ॥ ५५३ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष आत्मरूपमें स्थिर होकर विषयोंमें इन्द्रियोंको न कभी नियुक्त करते हैं न तो निवृत्त करते और न कभी क्रियाके फलके तरफ दृष्टि देते केवल ब्रह्मानन्दरसको पान करि सुन्दर मत्तसमान विहरते हैं ॥ ५५३ ॥

लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना ।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥ ५५४ ॥

लक्ष्य अलक्ष्य वस्तुओंकी गतिको त्यागकर केवल एक आत्मस्वरूपसे जो ज्ञानी सदा स्थिर होते हैं वह साक्षात शिवस्वरूप हैं ब्रह्मज्ञानियोंमें उत्तम हैं ॥ ५५४ ॥

जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः ।
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ॥ ५५५ ॥

जिसकी चित्तसे उपाधि नष्ट हुई वही उत्तम ब्रह्मज्ञानी कृतकृत्य हैं और सदा जीवन्मुक्त होकर निर्द्वय ब्रह्मरूपको प्राप्त होते हैं ५५५॥

शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ।
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ॥ ५५६ ॥

जैसे नट नानाप्रकारका स्वरूप रचना करनेसे और नहीभी करनेसे पुरुषरूप उसका यथार्थ सच अवस्थामें रहता है तैसे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ जो है सो किसी अवस्थामें वर्त्तमान रहे परन्तु वह ब्रह्मरूपही है ॥ ५५७ ॥

यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुः पततात् ।
ब्रह्मीभूतस्य यतेः प्रागेव तच्चिदग्निना दग्धम् ५५७॥

जैसे वृक्षसे समीचीनपत्र सूखनेपर जहां तहां गिरपरताहै तैसे ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त यतिका शरीर पूर्वहीसे चैतन्यरूप अग्निसे दग्ध रहताहै इस लिये चाहे कहीं गिरके शीर्ण होजावे इसमें ज्ञानीकी कोई क्षति नहीं है ॥ ५५७ ॥

सदात्मनि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः पूर्णाऽद्वयानन्द-
मयात्मना सदा । न देशकालाद्युचितप्रतीक्षा त्व-
ङ्मांसविट्पिण्डविसर्जनाय ॥ ५५८ ॥

पूर्ण अद्वयानन्दमय होकर सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्ममें सदा वर्त्तमान जो मुनि हैं उनका जो त्वचा मांस विष्ठा आदिसे पूर्ण यह देह पिण्ड है इसको त्याग करनेके लिये पवित्र देशकाल आदिकी प्रतीक्षा नहीं है क्योंकि वे तो स्वयं सदा मुक्त हैं ॥५५८॥

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्या हृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥५५९॥

देहका मोक्ष होना मोक्ष नहीं है और दण्डकमण्डलुका त्याग करनाभी मोक्ष नहीं है किन्तु जिससे अज्ञानरूप जो हृदयकी ग्रंथि है उस ग्रन्थिका मोक्ष होना वही मोक्ष है ॥ ५५९ ॥

कुल्यायामथ नद्यां वा शिवक्षेत्रेऽथ चत्वरे ।
पर्णं पतति चेत्तेन तरोः किन्तु शुभाशुभम् ॥५६०॥

किसी नालावमें चाहे किसी नदीमें चाहे काशीक्षेत्रमें अथवा कोई अच्छे चौंतरेपर कहींभी वृक्षका पत्र पतित हो परन्तु उस पत्रके गिरनेसे वृक्षका कोई हानि लाभ नहीं है तैसे ब्रह्मज्ञानीका शरीर चाहे कहीं पतित हो पर ज्ञानीको इसमें कोई हर्षविषाद नहीं होता५६०॥

पत्रस्य पुष्पस्य फलस्य नाशवद्देहेन्द्रियप्राणधि-
यां विनाशः । नैवात्मनः स्वस्य सदात्मकस्या-
नन्दाकृतेर्वृक्षवदस्ति चैषः ॥ ५६१ ॥

जैसे पत्र और पुष्प और फलका नाश होनेसे वृक्षका नाश नहीं होता तैसे देह इन्द्रिय प्राण बुद्धि इन सबका नाश होनेसेभी आनन्दरूप आत्माका कभी नाश नहीं होता ॥ ५६१ ॥

प्रज्ञानघन इत्यात्मलक्षणं सत्यसूचकम् ।
अविद्यौपाधिकस्यैव कथयन्ति विनाशनम् ॥५६२॥

सत्यका सूचक जो प्रज्ञानघन यह विशेषण है सो आत्मलक्षणका अनुवाद कारि उपाधिहीके नाशको कथन करता है ॥ ५६२ ॥

अविनाशी वाऽरेयमात्मेति श्रुतिरात्मनः । प्रब्रवीद्-विनाशित्वं विनश्यत्सु विकारिषु ॥ ५६३॥

विकारी जो देह आदि स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं इन सबका नाश होनेसे भी आत्माका नाश नहीं होता है यत्नवान (अविनाशी वाऽरे-ऽयमात्मा) यह श्रुति स्पष्ट आत्माको अविनाशी कहती है ॥ ५६३॥

पाषाणवृक्षतृणधान्यकडंगराद्या दग्धा भवन्ति हि मृदेव यथा तथैव । देहेन्द्रियासुमनआदिसमस्त-दृश्यं ज्ञानाग्निदग्धमुपयाति परात्मभावम् ॥५६४॥

जैसे पाषाण, वृक्ष, तृण, धान्य, भुसा ये सब नाश होनेपर मृत्तिका स्वरूप होजाते हैं तैसे देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि जितने दृश्य पदार्थ हैं सो सब नाश होने पर परमात्मस्वरूपहीको प्राप्त होते हैं ५६४

विलक्षणं यथा ध्वान्तं लीयते भानुतेजसि ।
तथैव सकलं दृश्यं ब्रह्मणि प्रविलीयते ॥५६५॥

विलक्षण अन्धकार जैसे सूर्यके उदय होनेपर सूर्यहीमें लय होजाता है तैसे सब दृश्य पदार्थ ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्महीमें लय होते हैं ५६५

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ॥ ५६६ ॥

घटके नाश होनेसे घटाकाश जैसे महाआकाशस्वरूपही हो जाताहै तैसे उपाधिका नाश होनेसे ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूपही होजाताहै५६६

क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।
संयुक्तमेकतां याति तथात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥५६७॥

जैसे दुधको दूधमें मिलानेसे तेलको तेलमें मिलानेसे जलको जलमें मिलानेसे एकही रूप हो जाता है तैसे ज्ञानी मनुष्य आत्मज्ञान होनेपर आत्मस्वरूपही होजाते हैं ॥ ५६७ ॥

एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्त्तते पुनः ॥ ५६८ ॥

पूर्व उक्त प्रकारसे देह त्याग होनेपर अखण्ड सत्तामात्र ब्रह्मभावको प्राप्त होकर यतिलोग फिर इस संसारमें नहीं प्राप्त होते ॥ ५६८ ॥

सदात्मैकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ।
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः ॥ ५६९ ॥

आत्मामें एकत्व ज्ञान होनेमें अज्ञानका शरीर जब दग्ध हो जाता है तो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूपही हो जाता है तो ब्रह्मका फिर उद्भव कैसे होगा ॥ ५६९ ॥

मायाकॢप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ।
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ॥५७०॥

जैसे क्रियासे रहित रज्जुमें सर्पका भ्रम होताहै फिर वह भ्रम निवृत्तभी हो जाताहै परन्तु रज्जु जैसाका तैसाही रहताहै तैसे मायाका कार्य्य बंध मोक्ष है सो आत्मामें कभी नहीं होता आत्मा एकही रूप सदा रहताहै ॥ ५७० ॥

आवृत्तेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ।
नावृत्तिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम् ।
यद्यस्त्यद्वैतहानिः स्याद्द्वैतं नो सहते श्रुतिः ॥५७१॥

अज्ञानकी जो आवरणशक्ति है उसीके रहनेमें बन्ध होता है और आवरणशक्तिके अभाव होनेसे मोक्ष होता है उस आवरणशक्तिका ब्रह्ममें अभाव होनेसे ब्रह्मका बन्ध मोक्ष भी नहीं है यदि ब्रह्ममें भी आवरणशक्ति होगी अर्थात् यदि ब्रह्म भी आवरणशक्तिसे आवृत होगा तो ब्रह्ममें अद्वैत सिद्ध न होगा और ब्रह्ममें द्वैतभाव होना यह सर्वथा श्रुति विरुद्ध है ॥ ५७१ ॥

बन्धं च मोक्षं च सदैव मूढा बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्प-
यन्ति । दृगावृतिं मेघकृतां यथा रवौ यतोऽद्वयासं-
गचिदेतदक्षरम् ॥ ५७२ ॥

बुद्धिका गुण जो बन्ध मोक्ष हैं उस बन्ध मोक्षको मूढ मनुष्य अद्वयानन्द परब्रह्मवस्तुमें कल्पना करते हैं जैसे मेघसे अपनी दृष्टिको आवृत होजानेसे सूर्य्यको आवृत मानते हैं ब्रह्म तो भेदसे रहित असङ्ग चैतन्यरूप नाशसे रहित है एसे ब्रह्मका बन्ध मोक्ष क्यों होगा ॥ ५७२ ॥

अस्तीतिप्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ॥ ५७३॥

आत्मवस्तुमें जो अस्तिप्रतीति है और नास्ति ऐसी जो प्रतीति है ये दोनों प्रतीति बुद्धिका गुण है नित्य वस्तु जो आत्मा है इसका गुण नहीं है क्योंकि आत्मा अस्तिनास्ति इन दोनों प्रतीतियोंसे विलक्षण है ॥ ५७३ ॥

अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ।
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने ।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥५७४॥

इस कारण मायाका कार्य्य जो ये दोनों बन्ध मोक्ष हैं सो कला क्रियासे रहित शान्त निरवद्य निरञ्जन अद्वितीय आकाश-वत् निर्लेप जो परब्रह्म है उनमें कैसे रहेगा ॥ ५७४ ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ५७५ ॥

आत्मवस्तुमें न कोई निरोध है न उत्पत्ति है न बन्ध है न साधक है न मोक्षकी इच्छा है न मुक्त है सबसे विलक्षण परमार्थ वस्तु आत्मा है ॥ ५७५ ॥

सकलनिगमचूडास्वान्तसिद्धान्तरूपं परमिदमति-
गुह्यं दर्शितं ते मयाद्य । अपगतकलिदोषं कामनि-
र्मुक्तबुद्धिंस्वसुतवदसकृत्त्वांभावयित्वा मुमुक्षुम् ५७६

यह सब वेदान्तका सिद्धान्त उपदेश करि आचार्य महाराज शिष्यसे बोले कि, कलिके दोषसे विनिर्मुक्त कामनासे रहित मोक्षकी इच्छा करनेवाले तुमको अपने पुत्रके समान जानकर सम्पूर्ण वेदका शिरोभाग जो अपने हृदयका परम सिद्धान्त अति गोपनीय विषय रहा सो सब इस समय मैने दिखाया ॥ ५७६ ॥

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं प्रश्रयेण कृतानतिः ।
स तेन समनुज्ञातो ययो निर्मुक्तबन्धनः ॥ ५७७ ॥

ऐसे वचन गुरुके सुनकर शिष्यने बडी नम्रतासे प्रणाम किया और गुरुकी आज्ञा पाकर संसार बन्धसे मुक्त होकर अपने स्थानको गया ॥ ५७७ ॥

गुरुरेव सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः ।
पावयन् वसुधां सर्वां विचचार निरन्तरः ॥ ५७८ ॥

गुरुभी सच्चिदानन्द ब्रह्ममें मग्नमानस होकर सम्पूर्ण पृथिवीको पवित्र करते हुये निरन्तर विचरने लगे ॥ ५७८ ॥

इत्याचार्य्यस्य शिष्यस्य संवादेनात्मलक्षणम् ।
निरूपितं मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥ ५७९ ॥

श्रीशंकराचार्य्यस्वामी ग्रन्थके अन्तमें अधिकारी व विषय प्रयोजन कहते हैं कि मुमुक्षु पुरुषको थोडे परिश्रमसे आत्मबोध होनेके लिये आचार्य्य शिष्यका संवादके बहानेसे आत्मलक्षण निरूपण किया ॥ ५७९ ॥

हितमिममुपदेशमाद्रियन्तां विहितनिरस्तसमस्त-
चित्तदोषाः । भवसुखविरतः प्रशान्तचित्तः श्रुति
रसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥ ५८० ॥

जो यति पुरुष संसारी सुखसे वैराग्यको प्राप्त हुए और प्रशान्त चित्त हैं और श्रुतियोंमें श्रद्धालु होकर मोक्षकी इच्छा रखता है वह मुमुक्षुलोग समस्त चित्तदोषोंको त्याग करि अपने हितके लिये मेरे उपदेशको आदर करेंगे ॥ ५८० ॥

संसाराध्वनि तापभानुकिरणप्रोद्भूतदाहव्यथाखिन्ना-
नां जलकांक्षया मरुभुवि श्रांत्या परिभ्राम्यताम् ।
अत्यासन्नसुधाम्बुधिं सुखकरं ब्रह्माद्वयं दर्शयत्येषा
शङ्करभारती विजयते निर्वाणसंदायिनी ॥५८१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवत्कृतो विवेकचूडामणिः समाप्तः ।

यह जो श्रीशंकराचार्य्यस्वामीकी ग्रन्थरूप वाणी है सो विजयको प्राप्त हुई कैसी यह ग्रन्थरूप वाणी है कि जो संसाररूप मार्गमें प्राप्त ताप और नाना क्लेशरूप सूर्य्यकी किरणोंसे दाह और व्यथा इन सबसे खेदको प्राप्त और ताप शान्तिके लिये जलकी इच्छासे निर्जल देशमें श्रान्त होकर परिभ्रमण करते हुए मनुष्योंको सुखका देनेवाला जो अद्वितीय ब्रह्मरूप अतिसान्निकट जो अमृतका समुद्र है उसको दिखाती है और परम मोक्षको देनेवाली है ॥५८१॥

पञ्चेषुनवशीतांशुसम्मिते वैक्रमेऽब्दके ।
वाक्यपुष्पावलिरियं शिवयोरर्पिता मया ॥ १ ॥

इति श्रीमच्छारामण्डलान्तर्गतरामपुरग्रामवास्तव्यपण्डितपृथ्वीदत्तपाण्डेयात्मज-
पण्डितचन्द्रशेखरशर्म्मविरचिता विवेकचूडामणि भाषाटीका समाप्ता ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेस,
कल्याण-मुंबई.

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेस,
खेतवाडी-मुंबई


इति
विवेकचूडामणिः
समाप्तः ।